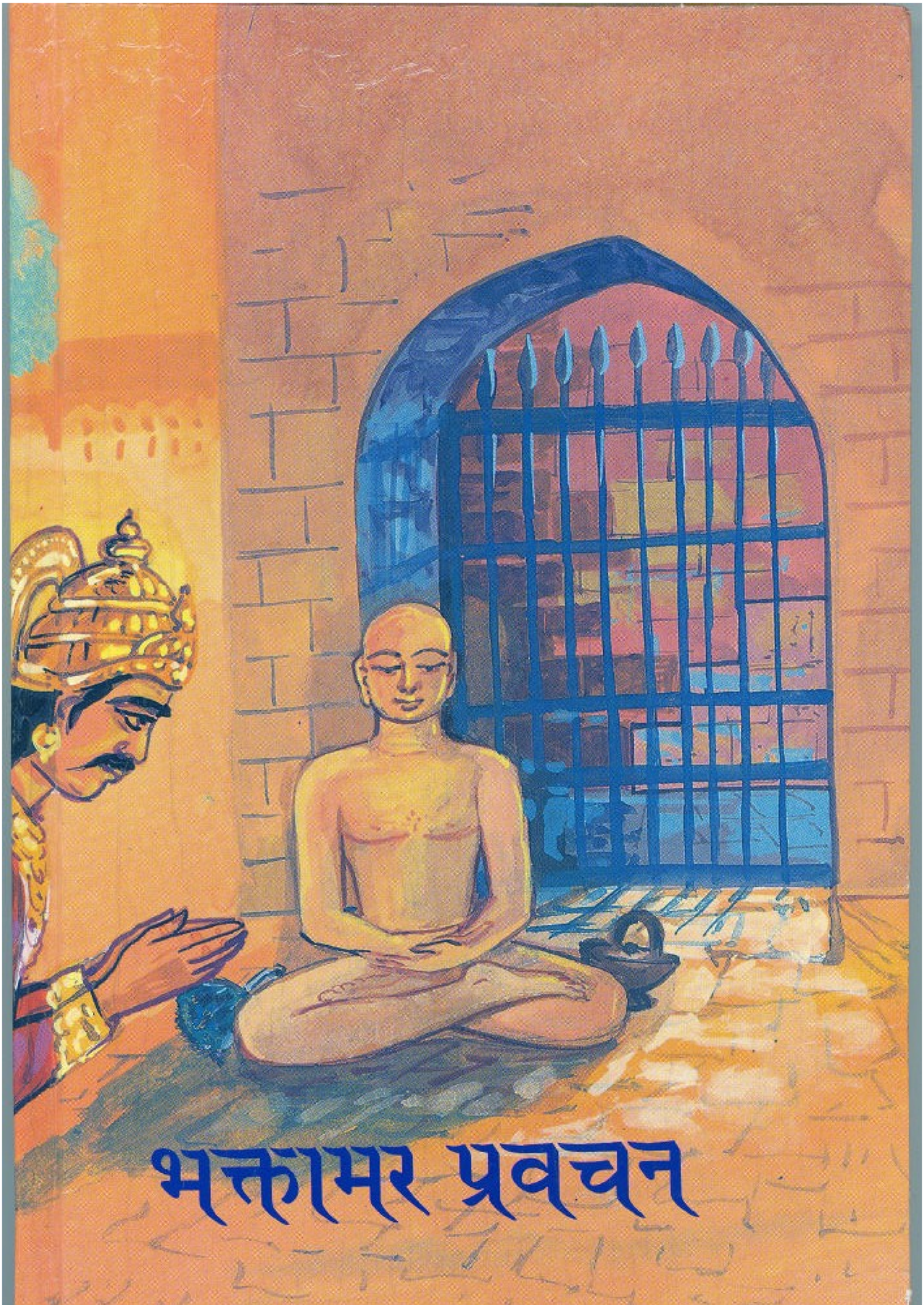
भक्तामर प्रवचन

भक्तामर प्रवचन

श्रीमद् मानतुङ्गाचार्य विरचित भक्तामर स्तोत्र पर
आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

अनुवादक, सम्पादक एवं प्रस्तावना

अध्यात्मरत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

हिन्दी पद्यानुवाद

स्व. श्री हेमराज पाण्डे

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर 302015 (राजस्थान)

फोन : (0141) 2705581, 2707458, फैक्स : 2704127

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम आठ संस्करण (31 अगस्त 1984 से अद्यतन)	:	31 हजार 400
नवम संस्करण (12 जुलाई, 2006)	:	2 हजार
योग	:	33 हजार 400

मूल्य : पन्द्रह रुपये

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dakshaben Sanghvi, Geneva, Switzerland who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of Bhaktamer Stotra (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	25 August 2009	First electronic version

प्रकाशकीय

(नवम् संस्करण)

भक्तामर प्रवचन का यह नवीन संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यह कृति जैन समाज में सर्वाधिक प्रचलित 'भक्तामर स्तोत्र' पर हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का हिन्दी भाषा में अनुवादित संकलन है।

पूज्य श्री कानजी स्वामी के 'भक्तामर स्तोत्र' के प्रवचनों का संकलन सर्वप्रथम गुजराती भाषा में हुआ। उक्त प्रवचनों के आधार पर स्व. पण्डित बंशीधरजी शास्त्री ने उसका हिन्दी में अनुवाद प्रारंभ किया। कुछ काव्यों के प्रवचनों का ही अनुवाद हो पाया था कि पण्डित बंशीधरजी अस्वस्थ हो गये फिर आगे के काव्यों का अनुवाद और सम्पूर्ण स्तोत्र के प्रवचनों का सम्पादन पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने स्वयं किया। इन प्रवचनों का सर्वप्रथम धारावाहिक प्रकाशन जनवरी १९८२ से अप्रेल १९८४ तक जैनपथ प्रदर्शक में होता रहा। बाद में पाठकों की मांग पर पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया।

पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा विवेचित आध्यात्मिक विषयों के प्रकाशन तो बहुलता के साथ होते रहे, परन्तु उनके द्वारा विवेचित व्यावहारिक विषयों के प्रकाशन बहुत कम हुए, जिसके कारण समाज में कुछ भ्रान्तियाँ भी खड़ी हुईं।

यद्यपि उनके जीवन का व्यवहार एक खुली किताब की भाँति स्पष्ट था, तथापि उनकी प्रवचन शैली में अध्यात्म की मुख्यता होने से लोगों को ऐसा लगा कि श्री कानजी स्वामी व्यवहार धर्म की उपेक्षा करते हैं। उक्त भ्रमों के निवारणार्थ ये भक्तिप्रधान प्रवचन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने इसके सम्पादन का गुरुतर भार वहन करते हुए इसकी प्रस्तावना लिखने का श्रम किया है। एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

भक्तामर स्तोत्र के सम्बन्ध में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखी गई

प्रस्तावना पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। इसमें अनेक भ्रान्तियों का सविस्तार खुलासा करके, उनका समुचित समाधान करने का प्रयास किया गया है। आशा है प्रबुद्धजन लाभान्वित होंगे।

इस पुस्तक की लेजर टाइप सैटिंग श्री श्रुतेश सातपुते शास्त्री डोणगाँव द्वारा की गई है तथा इस प्रकाशन को इतने सुन्दर ढंग से प्रकाशित करने का श्रेय प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल को है, जिन्होंने मुद्रण व्यवस्था में कम से कम खर्च में सुन्दर कार्य सम्पन्न किया है। इस सहयोग के लिए ट्रस्ट उनका हृदय से आभारी है।

प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करने हेतु जिन महानुभावों ने अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उनकी सूची अन्यत्र प्रकाशित की गई है। हम सभी दान-दाताओं का हृदय से आभार मानते हैं।

अन्त में, हम सबके शिरोमणि आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, जिन्होंने तत्त्वोपदेश के द्वारा हमें सच्चे मोक्षमार्ग का यथार्थ विवेक जागृत कराया। हम सब उनके भक्तामर स्तोत्र पर हुए प्रवचनों के माध्यम से अपने तत्त्वज्ञान को निर्मल करें – यही भावना है।

– ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशन मंत्री : पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सम्पादकीय

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी जहाँ अध्यात्म-अमृत में आकण्ठ निमग्न थे, वहीं उनका हृदय भक्तिरस से भी लबालब (भरचक) भरा हुआ था। वे प्रतिदिन प्रातः एवं मध्याह्न आधा-आधा घंटा नियमित जिनालय में जाकर जिनेन्द्र भक्ति एवं स्तुति किया करते थे।

उन्होंने आध्यात्मिक ग्रन्थों की भाँति ही 'भक्तामर' एवं 'विषापहार' जैसे भक्तिपरक स्तोत्रों पर भी उत्साहपूर्वक सरस प्रवचन किए, जो उनकी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्तिभावना को प्रगट करते हैं।

यद्यपि वे प्रवचनों में जिनेन्द्र भगवान के गुणगान करते-करते भक्तिभावना से अभिभूत होकर गद्‌गद हो जाते थे, तथापि वचनाभिव्यक्ति में भक्तहृदय भावुक कवियों की भाँति अतिशयोक्ति नहीं करते थे; अपितु भक्तिप्रधान कथनों में आये हुए कर्तृत्वादि के आरोपित कथनों का यथास्थान उचित स्पष्टीकरण करने में सदा सावधान रहते थे।

स्वामी समन्तभद्राचार्य की भाँति गुरुदेवश्री के बुद्धिपक्ष पर उनका हृदय हावी नहीं हो सका था। उनकी प्रस्तुत सम्पूर्ण प्रवचन शृंखला में इस बात के दर्शन होते हैं।

उदाहरणार्थ "आपके भक्तों को अग्निभय नहीं होता" – इसके स्पष्टीकरण में गुरुदेवश्री का निम्न कथन दृष्टव्य है– 'प्रलयकाल के तूफान सदृश वायुवेग से प्रकुपित प्रचण्ड अग्नि तो पुण्योदय से धर्मात्माओं को स्पर्श करती ही नहीं है; किन्तु जो धर्मात्मा ज्ञानानन्द आत्मा में मग्न हैं, उन्हें कषायाग्नि भी स्पर्श नहीं करती।[१]

पुनश्च 'कदाचित् धर्मी जीवों को भी असाता के उदय से बाह्य में ऐसा वातावरण (संयोग) बन भी जावे, तथापि अन्तर में अकषाय स्वभावी आत्मा की शरण लेकर वे निर्भय रहते हैं।'[२]

इसप्रकार उन्होंने पूर्ण सावधानी पूर्वक सम्बन्धित कथनों की नयविवक्षा का आवश्यक स्पष्टीकरण यथास्थान खुलकर किया है।

१-२. यही पुस्तक (भक्तामर प्रवचन), पृष्ठ : १३१

उनके प्रस्तुत प्रवचन जैनपथप्रदर्शक के कहान सन्देश स्तम्भ में जनवरी सन् १९८२ से क्रमशः प्रकाशित होते रहे हैं। पाठकों ने इनसे खूब लाभ भी लिया और सराहा भी। समय-समय पर पत्रों द्वारा प्रोत्साहित भी किया, परन्तु सम्पादन कार्य से मुझे स्वयं आत्मसंतोष नहीं था, क्योंकि मैं जिस रूप में इनका सम्पादन करना चाहता था, कर नहीं सका था। तभी से मेरे मन में यह दृढ़ संकल्प था कि यदि इनका पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ तो मैं रही-सही कसर को अवश्य पूरा करूँगा।

हर्ष है कि मुझे वह अवसर भी मिला और मैंने परिश्रम की परवाह न करके मूल गुजराती प्रति के आधार पर इनका पुनः नया संस्कार किया, नयी प्रेस कापी तैयार की। इसप्रकार अब मेरी दृष्टि में इसमें भाषा के परिमार्जन और विषयवस्तु के स्पष्टीकरण में पर्याप्त सुधार हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को पूरी तरह अक्षुण्ण रखते हुए विषयवस्तु एवं भावों के स्पष्टीकरण के साथ प्रवचनों की बोलचाल की भाषा को भी हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से साहित्यिक रूप देने का यथासाध्य प्रयास किया है। कहाँ तक सफल हो सका हूँ, इसका निर्णय पाठकों पर ही छोड़ता हूँ।

प्रवचनों में जिस पुनरावृत्ति को गुण माना जाता है, साहित्य में वही 'पिष्टपेषण' दोष गिना जाता है; अतः अनावश्यक पुनरावृत्तियों को कुछ कम किया है, परन्तु बहुत कम।

इसतरह जैनपथप्रदर्शक में प्रकाशित प्रवचनों का बहुत कुछ कायाकल्प हो गया है। इस बात की चर्चा करना यहाँ इसलिए आवश्यक प्रतीत हुआ कि जो भाई जैनपथप्रदर्शक में इन्हें पढ़ चुके हैं, वे भी पुनः पढ़ें और लाभ लें। अब उन्हें पहले से अधिक आनन्द आएगा और आशातीत लाभ होगा।

प्रत्येक काव्य को नये पृष्ठ से प्रारम्भ किया गया है, इसकारण लगभग सभी काव्यों के अन्तिम पृष्ठों पर महत्त्वपूर्ण उद्धरणों का सहज ही अच्छा संकलन हो गया है।

काव्यों के अर्थ के साथ शब्दार्थ का भी ज्ञान हो, एतदर्थ अन्वयार्थ दिया है। इस अन्वयार्थ में भी एक विशेषता यह रखी गई है कि यदि कोई संस्कृत के

शब्दों को छोड़-छोड़कर सीधा हिन्दी का अर्थ पढ़े तो उसे भावार्थ पढ़ने जैसा आनन्द आयेगा तथा अर्थ भली-भाँति समझ सकेगा।

यद्यपि संस्कृत का अन्वयार्थ हिन्दी से कुछ भिन्न होता है, तथापि मैंने जान-बूझकर हिन्दी के अनुरूप अन्वयार्थ किया है; क्योंकि यह हिन्दी के पाठकों को अधिक लाभदायक और उपयोगी रहेगा।

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में निम्न बिन्दुओं पर विशेष शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है –

१. प्रस्तुत स्तोत्र की इतनी लोकप्रियता क्यों ? पढ़-अनपढ़, ज्ञानी-अज्ञानी, कवि-साहित्यकार सभी इसी स्तोत्र पर क्यों रीझे; इस सम्बन्ध में अनेक पहलुओं से तथ्यों को उजागर किया गया है।

२. अड़तालीस ताले टूटने की कथा दिगम्बरों की मान्यता नहीं है। दिगम्बरों की मान्यता इससे भिन्न है।

३. वीतराग की भक्ति में कर्त्तावाद का आरोपित कथन क्यों ? इस सन्दर्भ में भक्ति एवं स्तुति के स्वरूप का सविस्तार स्पष्टीकरण आदि।

हिन्दी के पद्य प्रेमियों की दृष्टि से पाण्डे हेमराजजी का सबसे पुराना हिन्दी पद्यानुवाद देना ही उपयुक्त लगा। यद्यपि हिन्दी में अनेक पद्यानुवाद हुए हैं, जो एक से बढ़कर एक हैं; तथापि प्रस्तुत पद्यानुवाद की भाषा व लय में जो लालित्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ था; तथा यह सहज ही सबकी जिह्वा पर चढ़ा हुआ है और सरल भी है।

यद्यपि यह सब कार्य पूर्ण सावधानी व सतर्कता से हुआ है, तथापि 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' की उक्ति के अनुसार यदि कहीं कोई स्खलन हुआ हो तो मेरा ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है। जो सुझाव व संशोधन प्राप्त होंगे, उन पर गम्भीरता से विचार किया जायेगा और यदि आवश्यक हुए तो आगामी संस्करण में सुधार करने का प्रयास रहेगा।

– पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तावना

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न,
एम.ए., बी.एड.

सम्पूर्ण साहित्य में भक्तामर सर्वाधिक प्रचलित स्तोत्र है।

मुनि श्री मानतुङ्गाचार्य द्वारा रचित भक्तिरस का यह अनुपम स्तोत्र युगों-युगों से कोटि-कोटि भक्तों का कण्ठाहार बना हुआ है। क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर – सभी लोग इस स्तोत्र द्वारा प्रतिदिन वीतरागी परमात्मा की स्तुति, भक्ति एवं आराधना करके अपने जन्म-जन्मान्तरों के पापों को क्षीण करते रहे हैं। लाखों मातायें-बहिनें तो आज भी ऐसी मिल जायेंगी, जो भक्तामर का पाठ किये बिना जल-पान तक नहीं करतीं। इस काव्य के प्रति जन-सामान्य की इस अटूट श्रद्धा और लोकप्रियता के अनेक कारण हैं।

तत्त्वज्ञानियों की श्रद्धा का भाजन तो यह इसलिए है कि इसमें निष्काम भक्ति की भावना निहित है। ऐसा कहीं कोई संकेत नहीं मिलता है, जिसके द्वारा भक्त ने भगवान से कुछ याचना की हो या लौकिक विषय-वाञ्छा की हो।

जहाँ भय व रोगादि निवारण की चर्चा है, वह सामान्य कथन है, कामना के रूप में नहीं है। जैसे – कहा गया है कि 'हे जिनेन्द्र ! जो आपकी चरण-शरण में आता है; उसके भय व रोगादि नहीं रहते, सभी प्रकार के संकट दूर हो जाते हैं।'[१]

इसीप्रकार 'जब परमात्मा की शरण में रहने से विषय का विषय नहीं चढ़ता तो सर्प का विष क्या चीज है ? जब मिथ्यात्व का महारोग मिट जाता है तो जलोदरादि रोगों की क्या बात करें ?'[२]

इसमें याचना कहाँ है ? यह तो वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन है। जो विषय-कषाय की प्रवृत्ति छोड़कर निष्काम भाव से वीतराग परमात्मा के गुण-गान एवं आराधना करता है, उसकी मन्द कषाय होने से पाप स्वयं क्षीण हो जाते हैं एवं शुभभावों से सहज पुण्य बँधता है। पुण्योदय से बाह्य अनुकूल संयोग होते हैं और प्रतिकूलतायें स्वत: समाप्त हो जाती हैं। यह तो वस्तुस्थिति है।

१-२. देखिए, काव्य ४५ एवं ४७, यही पुस्तक

जैसे फल से लदे वृक्ष के नीचे जो जायेगा, उसे फल तो मिलेंगे ही; न चाहते हुए भी छाया भी सहज उपलब्ध होगी। उसीप्रकार वीतराग देव की शरण में वीतरागता की उपलब्धि के साथ पुण्यबंध भी होता ही है। कभी-कभी धर्मात्माओं को पूर्व पापोदय के कारण प्रतिकूलता भी आती है; तब भी ज्ञानी खेद नहीं करते और भक्तिभावना के प्रति अश्रद्धा भी नहीं करते, क्योंकि वे निर्वाञ्छक धर्माराधना करते हैं और वस्तुस्वरूप को सही समझते हैं।

साहित्यिक रुचिवाले इस काव्य की साहित्यिक सुषमा से प्रभावित और आकर्षित होते हैं; क्योंकि इसकी सहज बोधगम्य भाषा, सुगमशैली, अनुप्रासादि अलंकारों की दर्शनीय छटा, वसन्ततिलका जैसे मधुरमोहक गेय छन्द, उत्कृष्ट भक्ति द्वारा प्रवाहित शान्त रस की अविछिन्न धारा – इन सबने मिलकर इस स्तोत्र को जैसी साहित्यिक सुषमा प्रदान की है, वैसी बहुत कम स्तोत्रों में मिलती है। इन सबके सुमेल से यह काव्य बहुत ही प्रभावशाली बन गया है।

लौकिक विषय वांछा की रुचिवालों को भी भट्टारकीय युग ने इस काव्य को आधार बनाकर विविध प्रकार के चमत्कारिक साहित्य का सृजन कर दिया है, जिसमें मंत्रों-तंत्रों द्वारा नाना प्रकार की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ प्राप्त होने की चर्चायें हैं। कल्पित कथाओं द्वारा भी तात्कालिक चमत्कारों को खूब चर्चित किया है।

सम्भव है कि तत्कालीन परिस्थितियों में इनकी कुछ उपयोगिता एवं औचित्य रहा हो, पर आज तो कतई आवश्यकता नहीं है; तथापि वह भी इसकी लोकप्रियता का एक कारण है। इसतरह हम देखते हैं कि आज पढ़-अनपढ़ सभी प्रकार के लोग, जो धार्मिक विषय का क, ख, ग भी नहीं जानते; वे भी भक्तामरस्तोत्र का पाठ या अखण्ड पाठ करते-कराते रहते हैं।

भक्ति और स्तोत्र के स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए यदि भक्तामर स्तोत्र की विषयवस्तु पर विचार किया जाय तो स्तोत्रकार ने इस स्तोत्र द्वारा अपने इष्टदेव - वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की आराधना करते हुए भक्तिवशात् उनमें कर्तृत्व का आरोप तो कथंचित् किया है, किन्तु किसी भी छन्द में कहीं कोई याचना नहीं की, मात्र निरपेक्ष गुणगान ही किया है।

वीतरागी परमात्मा में कर्तृत्व का आरोप यद्यपि विरोधाभास है, तथापि स्तोत्र साहित्य में यह क्षम्य है; क्योंकि स्तवन या स्तोत्र की परिभाषा या स्वरूप बताते हुए आचार्यों ने लिखा है – "भूताभूतगुणोद्‌भावनं स्तुतिः" अर्थात् आराध्य में जो गुण हैं और जो नहीं भी हैं, उनकी उद्‌भावना का नाम ही स्तुति है। भक्ति के

आवेश में भक्त बहुधा भगवान में ऐसे गुणों का भी आरोप कर बैठता है, जो उसमें नहीं हैं। जैसे परम वीतराग अरहंत देव में कर्तृत्व का आरोप करना, उनके स्वभाव के विरुद्ध उन्हें सुख का कर्त्ता या दुःख का हर्त्ता कह देना, उन्हें सिद्धि या मोक्षदाता कह देना, उनके साथ स्वामी-सेवक सम्बन्ध स्थापित करना, उन्हें भक्तों को तारने का कर्त्तव्य-बोध कराना, उपालंभ देना, दीनता-हीनता प्रगट करना आदि।

वस्तुतः ऐसे औपचारिक उद्गार यदि भक्त की यथार्थ श्रद्धा और विवेक को विचलित नहीं करते तो स्तोत्र की दृष्टि से निर्दोष ही कहे जायेंगे, किन्तु केवल भक्ति की विह्वलता और भावुकता में ही ऐसे उद्गारों का औचित्य है। विचारकोटि में आने पर वीतरागता के साथ इनका मेल नहीं बैठता। भक्ति में जैसा वाणी से बोले, वैसा ही मान ले तो वह मान्यता यथार्थ नहीं है।

भक्ति एक त्रिमुखी प्रक्रिया है, इसके तीन केन्द्रबिन्दु हैं – भक्त, भगवान और भक्ति। इसमें भक्त और भगवान के बीच सम्बन्ध जोड़नेवाले प्रशस्त राग की मुख्यता रहती है। जब भक्त अपने आराध्य वीतरागी-देव, निर्ग्रन्थ-ज्ञानी गुरु एवं अनेकान्तमयी धर्म से प्रभावित होता है, तब उसके हृदय में उनके प्रति सहज अनुराग उत्पन्न होता है। इस प्रशस्त गुणानुराग को ही भक्ति कहते हैं।

उस भक्ति में लौकिक स्वार्थसिद्धि की गन्ध नहीं होती, किसी फल की आशा नहीं होती, कंचन-कामिनी की कामना नहीं होती, यश की अभिलाषा नहीं होती और भयकृत भीरुता भी नहीं होती।

भय, आशा, स्नेह व लोभ से या लौकिक कार्यों की पूर्ति के लिए की गई भगवद्भक्ति तो अप्रशस्त राग होने से पापभाव ही है, उसका नाम भक्ति नहीं है।

यद्यपि गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव, जो लौकिक कार्यों की सिद्धि हेतु कुदेवादि की उपासना करते हैं, उनके कुदेवादि की उपासनारूप अज्ञान एवं गृहीत मिथ्यात्व छुड़ाने के प्रयोजन से प्रथमानुयोग में या इस शैली के अन्य शास्त्रों में इसप्रकार की भक्ति की भी कदाचित् सराहना हो सकती है, किन्तु उसकी आड़ में हमें अपने अज्ञान की सुरक्षा करना योग्य नहीं है।

वह तो स्वार्थ है, परमात्मा से सौदेबाजी है। जब लोक में भी उसे अच्छा नहीं माना जाता है तो लोकोत्तर मार्ग में उसे कौन भला कहेगा ? अतः निःस्वार्थभाव से किया गया धर्म व धर्मायतनों के प्रति प्रशस्त एवं विशिष्ट अनुराग ही यथार्थ भक्ति की कोटि में गिना जा सकता है।

आगम में भी इस बात की पुष्टि में अनेक उल्लेख मिलते हैं, उनमें कुछ प्रसिद्ध आचार्यों को प्रमाणस्वरूप यहाँ प्रस्तुत करते हैं –

(१) अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुश्रुत सन्तों में और जिनवाणी में भावों की विशुद्धिपूर्वक जो प्रशस्त अनुराग होता है, उसे भक्ति कहते हैं।[१]

(२) अर्हदादि के गुणों में प्रेम करना भक्ति है।[२]

(३) जो जीव मोक्षगत पुरुषों का गुण-भेद जानकर उनकी भी परमभक्ति करता है, उस जीव को व्यवहारनय से निर्वाण भक्ति कही है।[३]

(४) व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के पंचपरमेष्ठी की आराधनारूप सम्यक् भक्ति होती है।[४]

(५) "निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-अवबोध-आचरणरूप शुद्ध रत्नत्रय परिणामों का जो भजन है, वह भक्ति है। आराधन – ऐसा उसका अर्थ है। एकादशपदी श्रावक (क्षुल्लक-ऐलक) शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं।"[५]

(६) निश्चयनय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्मतत्त्व की भावनारूप भक्ति होती है।"[६]

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान का भक्त यह जानता है कि उसके इष्टदेव अरहन्त भगवान परम वीतरागी हैं, अतः वे किसी का कुछ भी भला-बुरा नहीं करते, न किसी से कुछ लेते-देते हैं।

वस्तुस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त में एवं कर्म-सिद्धान्त में भी किसी अन्य के भला-बुरा करने की व्यवस्था नहीं है; तथापि व्यवहारभक्ति में वीतरागी भगवान को भी सुख-दुःख का कर्त्ता-हर्त्ता कहने का व्यवहार है।

(१) तार्किक शिरोमणि स्वामी समन्तभद्राचार्य ने लिखा भी है – "हे नाथ ! न आपको पूजा से कोई प्रयोजन है और न निन्दा से, क्योंकि आप समस्त

---

१. "अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्ति।" – सर्वार्थसिद्धि ६/२४/२३९

२. "अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।" – भगवती आराधना वि. ४७/१५९

३. "मोक्खगयं पुरिसाणं गुणभेद जाणिऊण तेसिं पि"... – नियमसार, गाथा : १३५

४. "भक्तिः पुनः सम्यक्त्व भण्यते व्यवहारेण सराग सम्यग्दृष्टिनां पंचपरमेष्ठिचाराधनारूपा।" – समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका १७३/१७६/२४३

५. "निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भाजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः। एकादशपदेषु श्रावकेषु सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्ति कुर्वन्ति।" – नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ : १३४

६. "वीतरागसम्यग्दृष्टिनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेतिं।" – समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका १७३/१७६/२४३

बैर-विरोध का परित्याग करके परम वीतराग हो गये हो, तथापि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापों से मुक्त करके पवित्र कर देता है।''[१]

(२) कुन्दकुन्दाचार्य देव स्वयं लिखते हैं –

''जो नित्य हैं, निरंजन हैं, शुद्ध हैं तथा तीनलोक के द्वारा पूजनीय हैं – ऐसे सिद्ध भगवान ज्ञान, दर्शन व चारित्र में श्रेष्ठ भाव की शुद्धता दो।''[२]

इसीप्रकार और भी देखिये –

(३) तीर्थ और धर्म के कर्त्ता श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार हो।[३]

(४) तीनों लोकों के गुरु और उत्कृष्टभाव के अद्वितीय कारण हे जिनवर ! मुझ दास के ऊपर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो जावे। हे देव ! आप कृपा करके मेरे जन्म (संसार) को नष्ट कर दीजिए।[४] यही एक बात मुझे आपसे कहनी है। चूँकि मैं इस संसार से अतिपीड़ित हूँ, इसीलिए मैं बहुत बोल गया हूँ'' – इत्यादि।

इस तरह हम देखते हैं कि व्यवहारनय द्वारा वीतरागी और सर्वथा अकर्ता भगवान के लिए कर्त्तृत्व की भाषा का प्रयोग व्यवहारनय से असंगत नहीं है। जिनवाणी में ऐसे प्रयोग सर्वत्र हैं।

बोलचाल की भाषा में ऐसा कहना व्यवहार है; किन्तु जैसा कहा, उसे वैसा ही मान लेना मिथ्यात्व है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं – 'यद्यपि वीतरागी परमात्मा को भी जिनवाणी में एवं स्तुति-पाठादि में पतित-पावन, अधम-उद्धारक आदि विशेषण कहे हैं, सो फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त तो उनको निमित्तमात्र हैं, इसलिए उपचार द्वारा वे विशेषण सम्भव होते हैं। अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग-मोक्ष के दाता नहीं हैं।[५]

---

१. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥ – वासुपूज्य स्तुति, वृहत्स्वयंभू स्तोत्र

२. दिंतु वर भावशुद्धिं दंसण णाणे चरित्तेय। – भावपाहुड़, गाथा : १६३

३. पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं। – प्रवचनसार, गाथा : १

४. त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दैककारणं कुरुष्व।
मयि किंकरेऽत्र करुणां तथा यथा जायते मुक्तिः ॥१॥
अपहर मम जन्म दयां कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्ये।
तेनातिदग्ध इति मे देव बभूव प्रलापित्वम् ॥६॥ – श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका, करुणाष्टक

५. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय : ७, पृष्ठ : २२२

पण्डित श्री मिलापचन्दजी कटारिया ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है कि – ''भट्टारकों ने इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मंत्र-तंत्रादि और कथाओं के जाल से गूँथकर जटिल और सराग बना दिया है। इसके निर्माण के सम्बन्ध में भी प्राय: मनगढ़ंत कथायें रच डाली हैं।

ये निर्माण-कथायें कितनी असंगत, परस्पर विरुद्ध और अस्वाभाविक हैं – यह विचारकों से छिपा नहीं है।

किसी कथा में श्री मानतुङ्ग को राजा भोज का समयवर्ती बताया है तो किसी में कालिदास का तथा किसी में बाण, मयूर आदि के समय का बताया है, जो परस्पर विरुद्ध है।

राजा ने कुपित होकर मुनि श्री मानतुङ्ग को ऐसे कारागृह में बन्द कर दिया, जिसमें ४८ कोठे थे और प्रत्येक कोठे के एक-एक ताला था – ऐसा कथा में बताया है।

यहाँ सोचने की बात है कि एक वीतराग जैन साधु को जिसके पास कोई शस्त्रादि नहीं, कैसे कोई राजा ऐसा अद्भुत दण्ड दे सकता है ? और फिर ऐसा विलक्षण कारागार भी सम्भव नहीं। सही बात तो यह है कि ४८ छन्द होने से ४८ कोठे और ४८ तालों की बात गढ़ी गयी है। अगर कम-ज्यादा छन्द होते तो कोठों और तालों की संख्या भी कम-ज्यादा हो जाती। श्वेताम्बर ४४ छन्द ही मानते हैं, अत: उन्होंने बन्धन भी ४४ ही बताये हैं। इसतरह उन कथाओं में और भी पद-पद पर अनेकानेक बेतुकापन पाया जाता है, जो थोड़े से विचार से ही पाठक समझ सकते हैं।''[१]

अड़तालीस ताले टूटने की कथा दिगम्बराचार्यों की मान्यता नहीं है। ये भट्टारकीय युग के किसी प्रभाचन्द्र भट्टारक की मनगढ़ंत कल्पित कथा है।

(५) दिगम्बरों के मतानुसार – ''ग्यारहवीं सदी (लगभग १०२५ ई.) के दिगम्बराचार्य महापण्डित प्रभाचन्द्राचार्य ने 'क्रियाकलाप' ग्रन्थ की अपनी टीका की उत्थानिका में लिखा है कि मानतुङ्ग नामक श्वेताम्बर महाकवि को एक दिगम्बराचार्य ने महाव्याधि से मुक्त कर दिया तो उसने दिगम्बर मार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा कि भगवन् ! अब मैं क्या करूँ ? तब आचार्य ने आदेश दिया कि

१. जैन निबन्ध रत्नावली, पृष्ठ : ३३७

परमात्मा के गुणों को गूँथकर स्तोत्र बनाओ। फलतः मानतुङ्ग मुनि ने इस भक्तामर स्तोत्र की रचना की।[१]

भक्तामर स्तोत्र में जिनेन्द्र भगवान के रूप-सौन्दर्य का, उनके अतिशयों और प्रातिहार्यों का तथा उनके नाम-स्मरण के माहात्म्य से स्वतः निवारित भयों एवं उपद्रवों का अच्छा संतुलित वर्णन किया गया है। इसमें अनावश्यक पाण्डित्य प्रदर्शन से स्तोत्र को बोझिल नहीं होने दिया गया है और न ही समन्तभद्र की तरह तार्किकता एवं दार्शनिकता से दुरूह होने दिया गया है। यद्यपि दार्शनिकता व तार्किकता के कारण समन्तभद्राचार्य के स्तोत्र उच्च-कोटि के शास्त्र बन गये हैं, परन्तु वे दार्शनिक दुरूहता के कारण भक्तामर की तरह प्रतिदिन पाठ करने के लिए जन-जन के विषय नहीं बन पाये हैं। आचार्य समन्तभद्र की तार्किक बुद्धि और दार्शनिक चिन्तन उनके हृदयपक्ष पर हावी रहा, परन्तु इससे उनके स्तोत्रसाहित्य में भी यह विशेषता रही कि भावुकतावश होनेवाले कर्त्तृत्वादि के आरोपित कथन उनके स्तोत्रों में नहीं आने पाये।

देवागम स्तोत्र, स्वयम्भू स्तोत्र, एकीभाव स्तोत्र एवं कल्याणमन्दिर स्तोत्र की भाँति ही इस स्तोत्र का नाम भी प्रथम छन्द के प्रथम पद के आधार पर ही प्रचलित हुआ है। इसका दूसरा नाम आदिनाथ स्तोत्र या ऋषभ स्तोत्र भी है। दूसरे नाम के सन्दर्भ में विचारणीय बात यह है कि मात्र 'प्रथमं जिनेन्द्रं' और 'युगादौ' पदों से ही यह 'आदिनाथ स्तोत्र' कहा जाता है।

''यदि 'प्रथमं जिनेन्द्रं' का अर्थ जिनेन्द्रों (अरहन्तों) में प्रमुख अर्थात् तीर्थंकरदेव कर लिया जाये तथा 'युगादौ' का अर्थ तीर्थंकर के जन्म से प्रारम्भ होता है – यह माना जाये तो यह सामान्यतया सभी तीर्थंकरों या जिनेन्द्रों की स्तुति है। वैसे भी स्तोत्र में कहीं भी किसी भी तीर्थंकर विशेष का नामादि परिचयसूचक कोई स्पष्ट संकेत नहीं है।''[२]

भक्तामर स्तोत्र के काव्यों की संख्या में भी कुछ मतभेद हैं। केवल मन्दिरमार्गी श्वेताम्बर जैन इस स्तोत्र की काव्य संख्या ४४ मानते हैं। शेष सभी दिगम्बर जैन, स्थानकवासी एवं तेरापंथी श्वेताम्बर आदि एक मत से ४८ काव्य ही मानते हैं। ४४ काव्यों के माननेवाले ३२ से ३५ तक चार काव्यों को नहीं मानते, इन्हें प्रक्षिप्त

१. अनेकान्त, अंक १९६६, पृष्ठ : २४५

२. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भक्तामर रहस्य की प्रस्तावना, पृष्ठ : २८

कहते हैं; परन्तु इससे उनके यहाँ चार प्रातिहार्यों का वर्णन छूट जाता है, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी पूरे आठ प्रातिहार्य माने गये हैं।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भी भक्तामर की तरह पूरे आठ प्रातिहार्यों का वर्णन है और उसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी अविकलरूप से मानता है। तब फिर भक्तामर के उक्त चार काव्यों को क्यों नहीं मानता ? सम्भव है, कल्याणमन्दिर स्तोत्र में ४४ ही काव्य हैं, अत: भक्तामर में भी ४४ ही होने चाहिए – इस विचार से ऐसा किया हो।[१] अस्तु –

भक्तामर स्तोत्र के कर्त्ता मानतुङ्ग सूरि कौन थे, कब हुए ? यह विषय इतिहास की शोध-खोज का विषय है। ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर १३ वीं शताब्दी तक १० मानतुङ्ग सूरि हुए हैं, उनमें भक्तामर स्तोत्र के कर्त्ता कौन थे – यह कह पाना कठिन है।

इस स्तोत्र के कर्त्ता मानतुङ्ग कवि को कुछ इतिहासज्ञ विद्वानों ने हर्षवर्द्धन के समकालीन बताया है। चूँकि सम्राट हर्षवर्द्धन का समय ७ वीं शती है, अत: मानतुङ्ग का समय भी ७ वीं शताब्दी होना चाहिए।[२]

तथ्यों से पता चलता है कि भक्तामर के रचयिता मूलत: ब्राह्मण, धर्मानुयायी और सुकवि थे। बाद में अनेक परिवर्तनों के बाद दिगम्बर जैन साधु हो गये थे। उन्हीं ने यह भक्तामर काव्य बनाया।[३]

विभिन्न दिगम्बर एवं श्वेताम्बर शास्त्र भण्डारों में भक्तामर स्तोत्र की एवं तत्सम्बन्धी अन्य साहित्य की अनेकानेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं, जिनमें कुछ तो १२ वीं-१३ वीं ई. शती तक की पायी जाती हैं।[४]

भक्तामर स्तोत्र पर बहुत से प्राचीन विद्वान साहित्यकारों ने विपुल मात्रा में विविध प्रकार के साहित्य का सृजन किया है। जैसे – भक्तामर-स्तवन-पूजन, भक्तामरस्तोत्र वृत्ति-टीका या वचनिका, पुरातन हिन्दी पद्यानुवाद, भक्तामरचरित कथा आदि। (विस्तृत जानकारी के लिए देखें।[५])

---

१. पण्डित रतनलाल कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली, पृष्ठ : ३३८
२. वही, पृष्ठ : ३३९
३. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भक्तामर रहस्य की प्रस्तावना, पृष्ठ : ३६
४. वही, पृष्ठ : ३७
५. वही, पृष्ठ : ३९

भट्टारकीय युग में मंत्र-तंत्र विधि-विधानादि तथा कल्पित कथायें आदि भी खूब लिखी गईं। इस सब में सत्यासत्य का निर्णय तो सम्भव नहीं है, पर इतना तो सिद्ध है कि इसके प्रभाव से कोई अछूता नहीं रहा।

इनके अतिरिक्त भक्तामर की पादपूर्ति या समस्यापूर्ति के रूप में लगभग २५ संस्कृत काव्य रचे गये।

''पाण्डे हेमराज कृत हिन्दी पद्यानुवाद तो सर्वाधिक प्राचीन, सर्वश्रेष्ठ व सरस रचना है ही, उन्होंने भक्तामर पर हिन्दी गद्य वचनिका (१६५२ ई.) भी लिखी थी तथा प्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा (१८१३ ई.) ने भी 'भक्तामर चरित' लिखा है। और भी पण्डित धनराज आदि के प्राचीन nÚmZdmX {_bVch§

वर्तमान काल में प्राय: सभी सहृदय भक्त कवियों ने भक्तामर काव्य के आधार पर जिनेन्द्र भगवान के चरणों में अपनी-अपनी लेखनी से प्रसूत काव्य-प्रसून अर्पित किए हैं। अन्तिम कड़ी के रूप में पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की यह भक्तामर प्रवचन माला उनकी परोक्ष उपस्थिति में जिनेन्द्र चरणों में समर्पित करके अपने कण्ठ में धारण करते हुए और हृदय का हार बनाते हुए हम अति हर्षित हैं।

प्रस्तुत प्रस्तावना के माध्यम से हमने संक्षेप में भक्तामर का माहात्म्य, जनसामान्य में इसकी लोकप्रियता के कारण, इसकी विषय-वस्तु, आगम के आलोक में भक्ति-स्तुति का स्वरूप, व्यवहार भक्ति में परमात्मा में कर्त्तापन का आरोप का औचित्य, भक्तामर स्तोत्र पर विविध प्रकार के साहित्य का सृजन, भक्तामर के रचयिता मानतुङ्ग, उनका समय, काव्यों की संख्या, स्तोत्र का नाम, भक्तामर पर भट्टारकीय युग का प्रभाव आदि विविध विषयों का सामान्य परिचय कराने का प्रयास किया है। विशेष जानकारी के लिए यथास्थान संदर्भित टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

विस्तार के भय से यद्यपि टिप्पणियों के अनुसार यहाँ पूरे अंश नहीं दे सके हैं, तथापि प्रयोजन पूरा हो जाता है।

आशा है, पाठक इससे लाभ लेकर हमारे श्रम को सार्थक करेंगे।

सभी लोग इस ग्रन्थ के द्वारा भक्ति का यथार्थ स्वरूप समझकर भक्त, भक्ति और भगवान की त्रिमुखी प्रक्रिया को अपने जीवन में साकार करके सच्चा सुख प्राप्त करें – इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

---

१. अगरचन्द नाहटा (श्रमण, सितम्बर १९७०)

भक्तामर प्रवचन

(परम पूज्य श्री मानतुङ्गाचार्यदेव विरचित आदिनाथ स्तोत्र पर हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन)

श्री मानतुङ्गाचार्यदेव द्वारा रचित यह आदिनाथ स्तोत्र एक भक्तिपरक काव्य है, जिसका नाम ऋषभजिनस्तुति अथवा भक्तामर स्तोत्र भी है, इसमें ४८ काव्य हैं। श्री आदिनाथ भगवान अर्थात् ऋषभदेव प्रभु इस चौबीसी के तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हो गये हैं। आत्मस्वरूप का बोध करके पिछले तीसरे भव में जिसने तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया हो, वही बाद में दीक्षा लेकर तीर्थंकर होता है – ऐसे अनन्त तीर्थंकर हुए हैं। श्री मानतुङ्गाचार्य देव ने यह दिव्य स्तुति रची है, जिसमें व्यवहारभक्ति के साथ निश्चय-अध्यात्मशैली भी समाविष्ट है। अधिकांश जीव इस स्तुति के द्वारा सांसारिक फल की वांछा करते हैं, यह अनुचित है। आचार्य श्री समन्तभद्र तथा श्री वादिराजसूरि आदि अनेक आचार्यों ने इसप्रकार की स्तुतियों की रचनायें की हैं। उन सभी ने वीतराग भावना के लिए ही वीतराग की स्तुति की है।

निश्चय से साधक और साध्य तथा भक्त और भगवानपना अपने में ही है। निश्चय से हम स्वयं ही भगवान हैं और साधकभाव की अपेक्षा से भक्त भी स्वयं ही हैं।

मानतुङ्ग नाम में दो शब्द हैं – मान + तुङ्ग। मान अर्थात् जिसे ऊँचा सम्मान प्राप्त है और जिसमें स्वतन्त्र शक्ति का उछाला आया है तथा तुङ्ग अर्थात् उत्कृष्ट। जिसने उत्कृष्ट भाव से भान (विवेक) सहित भगवान की भक्ति की है, वह जीव स्वयं त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर होता है और इन्द्रों का मुकुट उसके चरणों में नमता है। ऐसे श्री मानतुङ्गाचार्यदेव ने यह आदिनाथ स्तोत्र बनाया है। सर्वप्रथम कविवर पण्डित हेमराजजी पाण्डे हिन्दी मंगलाचरण में भगवान आदिनाथ प्रभु को स्मरण और नमन करते हैं–

आदिपुरुष आदीश जिन, आदि सुविधि करतार।
धरम धुरंधर परमगुरु, नमों आदि अवतार॥

इस मंगलाचरण में आदिनाथ भगवान को आदि-पुरुष, आदीश-जिन, धरम-धुरंधर, परमगुरु आदि विशेषताओं सहित स्मरण किया गया है।

काव्य १ व २

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पाप-तमो-वितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिन-पाद-युगं युगादा-
वालम्बनं भव-जले पततां जनानाम्॥१॥
यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय-तत्त्व-बोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुर-लोक-नाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय-चित्त-हरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्॥२॥

हिन्दी काव्य

सुर-नत-मुकुट रतन-छवि करैं, अन्तर पाप-तिमिर सब हरैं।
जिनपद वंदों मन-वच-काय, भव-जल-पतित उधरन-सहाय॥१॥
श्रुत पारग इन्द्रादिक देव, जाकी थुति कीनी कर सेव।
शब्द मनोहर अरथ विशाल, तिस प्रभु की वरनों गुन-माल॥२॥

अन्वयार्थ – (भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणाम् उद्योतकम्) भक्तिवन्त देवताओं के नम्रीभूत मुकुटों की मणियों को अपने पदनखों की कांति से जगमगानेवाले - प्रकाशित करनेवाले, तथा **(दलित-पाप-तमो-वितानम्)** पापरूपी अन्धकार के समूह का नाश करनेवाले, **(भव-जले पततां जनानाम् आलम्बनम्)** संसार-सागर में गिरे हुए - पड़े हुए जगतजनों के आधारभूत, **(युगादौ प्रथमं जिनेन्द्रम्)** युग के आदि में - चतुर्थकाल के प्रारम्भ में अवतरित हुए प्रथम जिनेन्द्र आदिनाथ भगवान के **(जिनपादयुगम्)** चरण-युगल को **(सम्यक् प्रणम्य)** भली-भाँति भक्तिपूर्वक प्रणाम करके ,नतमस्तक होकर **सकल-वाङ्मय-तत्त्व-बोधात्)** समस्त शास्त्रों के तत्त्वज्ञान से **(उद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुर-लोक-नाथैः)** जिन्हें बुद्धिकौशल की प्राप्ति हुई है – ऐसे देवेन्द्रों के द्वारा **(जगत्त्रितय-चित्त-हरैः उदारैः स्तोत्रैः)** तीनों लोकों के चित्त को हरण करनेवाले, महान गम्भीर आशयवाले स्तात्रों के द्वारा **(यः संस्तुतः)** जिनकी स्तुति की है, **(तं प्रथमं जिनेन्द्रम्)** उन्हीं प्रथम जिनेन्द्रदेव का **(अहं अपि स्तोष्ये)** मैं भी स्तवन करूँगा।

श्री मानतुङ्गाचार्यदेव ने इन दो छन्दों में आदिनाथ भगवान के स्तवन करने का संकल्प किया है।

काव्य १ व २ पर प्रवचन

भक्तामर अर्थात् भक्त अमर। यह उन आदिनाथ भगवान की स्तुति है, जिनके सौ इन्द्र और असंख्य देवगण भक्त हैं। सौधर्म इन्द्र के बत्तीस लाख विमान हैं और ईशान इन्द्र के अट्ठाईस लाख विमान हैं – ऐसे सौधर्म-ईशान इन्द्र जिनेन्द्र भगवान के परम भक्त हैं। पूर्वभव में जिन्होंने स्वभाव की रुचि से पुण्य की रुचि को नकार करके आत्मभान की भूमिका में विशिष्ट पुण्यबंध किया था, उसी के फलस्वरूप उन्हें लाखों विमानों का संयोग भी मिला; तथापि उन सम्यग्दृष्टि इन्द्रों को इन्द्रपद का तथा इन्द्रसम्पदा का किंचित् भी माहात्म्य नहीं है। वे इन्द्र कहते हैं कि – ''हे प्रभु ! आपके पास केवलज्ञान है, स्व-परप्रकाशक ज्ञानज्योति पूर्ण प्रगट हुई है, उसकी महानता है। पुण्योदय के कारण प्राप्त हमारी ऋद्धि का कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि इन्द्रपद की महान ऋद्धि है, तथापि वह मेरा निजस्वरूप नहीं है'' – ऐसा वे स्वयं मानते हैं। देवों की आयु मनुष्यों से असंख्यगुणी अधिक है अर्थात् सागरोपम की होती है। वे अधिक लम्बे काल तक स्वर्ग में रहते हैं, इसलिये उन्हें अमर कहते हैं। ऐसे अमर (देव) भगवान की भक्ति करते हैं, उनका शरीर विशेष तेजयुक्त होता है, जिसकी कल्पना साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। जिनके कानों में मणिरत्न के कुण्डल और माथे पर मुकुट होता है – ऐसे स्वर्गलोक के देवगण जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करते हैं।

''हे प्रभु ! आपका पुण्य और पवित्रता अनुपम व उत्कृष्ट है। आप आद्य तीर्थंकर हो। हमें आत्मा का भान हुआ है, अब हमारी अधूरी दशा बहुत काल तक नहीं रहेगी। शुभ विकल्प उठा है, इसलिए भक्ति करते हैं; परन्तु यह विकल्प राग है, अन्तर में वीतरागतारूप निश्चयभक्ति ही यथार्थ भक्ति है। स्वभाव में पूर्ण एकाग्रता होने पर सिद्धदशा प्राप्त करेंगे और तब अष्टकर्म की १४८ प्रकृतियाँ छूट जावेंगी'' – इसप्रकार देवगण स्तुति करते हैं। उनका मस्तक यद्यपि भगवान के चरणों में झुकता है, उनके मुकुटों की मणियों की प्रभा दिव्य होती है, तथापि आपके नखों की कान्ति से वे और अधिक सुशोभित होती हैं। यहाँ देवों के पुण्य का माहात्म्य नहीं है, यहाँ तो आपकी महान पवित्रता का

माहात्म्य बतलाने के लिए स्तुति की गई है। हे प्रभु ! इन्द्रों के मुकुट की शोभा नहीं है, क्योंकि मुकुट की मणियों के प्रकाशक तो आप ही हैं। आपके शरीर का तेज उत्कृष्ट है। आपके नखों में से जो परम उज्ज्वल कांतियुक्त किरणें निकलती हैं, उनसे इन्द्रों के मुकुट की प्रभा आच्छादित हो जाती है। तीर्थंकर भगवान के पद-नख ऐसे सुन्दर होते हैं कि जब मुकुट सहित देवगुण उनके चरणों में झुकते हैं तो उनके मुकुट तीर्थंकर के नखों की शोभा से सुशोभित हो जाते हैं। नख के परमाणु ऐसे सुन्दर परिणमित हुए हैं कि उनसे देवों के मुकुट शोभित होने लगते हैं। हे भगवन् ! आपका पुण्य तो अचिंत्य, अनुपम है ही; उसकी तो क्या बात करें ? आपकी पवित्रता भी अतुल्य है, अनुपम है।

मुनिगण भक्ति करते हैं कि आपने तो पूर्ण पवित्रता को अन्तर में साध लिया है। पूर्व-पुण्य के कारण तीर्थंकर नामकर्म बँधा और फलस्वरूप अति सुन्दर शरीर प्राप्त हुआ है। तीर्थंकर का शरीर कामदेव के शरीर से विशेष सुन्दर होता है। हे नाथ ! देवेन्द्र तथा उनके मुकुटों को शोभित करनेवाले आपके नख हैं। आपके शरीर की क्या बात ? पवित्रता के साथ पुण्य कैसा होता है, यह आपका शरीर सूचित करता है।

यहाँ भगवान की स्तुति की बात करते हैं। हे प्रभु ! आपकी जो पवित्रता अंतरंग शक्ति में व्यक्त हुई है और केवलज्ञान लक्ष्मी प्रगट हुई है, उसकी महिमा तो क्या कहें ? अरे ! तृण समान जो पुण्य का विपाक हुआ, उसके कारण उत्पन्न हुई आपके नखों की शोभा से भी देवों के मस्तक के मुकुट सुशोभित और दैदीप्यमान हो गये। आपके चरणों में नहीं नमें तो किसको नमें ? निश्चय से नमना तो अन्तर में है, ज्ञानी के अन्य का तो स्वप्न में भी आश्रय नहीं है। व्यवहार से कहें तो पंचपरमेष्ठी की शरण है और निश्चय से आत्मा का आश्रय है।

अब दूसरी बात करते हैं। "हे प्रभो ! आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, यह शुभभाव का ऐसा उछाला है कि इसके द्वारा मेरे पापों का नाश हो जाता है। देवगण आपके चरण-कमल की भक्ति से पाप का नाश करते हैं। आप सर्वज्ञ परमात्मा हो, पूर्ण हो, देह-विलय के पश्चात् आप सादि-अनन्त सिद्धदशा में रहेंगे। हे भगवन् ! आपके चरण-कमल भक्तों के पाप का नाश करने में निमित्त

हैं। शुभराग उठता है, उससे अशुभ कर्म का बंधन नहीं होता और शुद्धता के भान में तो विशेषतया अशुभ का अभाव ही हो जाता है।

आपकी भक्ति के भाव से पाप भाव का नाश होता है, संसाररूपी लता का वंश दीर्घकाल तक नहीं चलता। आपको चैतन्य-चमत्कार की पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हुई है। हे नाथ ! आप परम गुरु हो। अठारह कोड़ा-कोड़ी सागर तक भरतक्षेत्र में जुगलिया मनुष्यों का सद्भाव रहा, उससमय मुनिधर्म नहीं था। आप ही इस धर्मयुग के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर हो, आपने ही आद्य धर्म की स्थापना की है। हम धर्म के साधक हैं, आपकी स्तुति से पापवंश नष्ट हो जाता है। अब तक संसार की शृंखला चली, परन्तु अब नहीं चलेगी। भगवान ऋषभदेव तीन ज्ञान लेकर जन्मे थे, जब राजसभा में विराज रहे थे; तब नीलांजना नृत्य कर रही थी, नृत्य करते समय उसकी आयु पूर्ण हो जाने से उसका देह विलय हो गया। रंग में भंग न हो – यह सोचकर इन्द्र ने तत्काल उसके स्थान पर दूसरी देवी खड़ी कर दी, किन्तु भगवान को भान हो गया और भगवान को विचार आया कि अहो ! यह तो वैराग्य प्राप्त करने जैसा प्रसंग है। उसी समय उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया और तुरन्त ही गृहत्यागी होकर नग्न दिगम्बर मुनि हो गये, बाद में केवलज्ञानी परमात्मा बने तथा धर्मदेशना दी। अत: हे नाथ ! आप ही धर्मयुग आद्य प्रवर्तक हो।

जब आपकी दिव्यध्वनि खिरी, तब अनेक मुनि हो गये और अनेक सम्यग्दृष्टि श्रावक बन गये तथा जिन्हें योग्यता नहीं थी, उन्होंने मोक्षमार्ग का विरोध किया और उनके द्वारा नरकादि गतियों का भी मार्ग खुल गया। इससे पूर्व सभी जीव स्वर्ग में ही जाते थे, परन्तु जहाँ पूर्ण पवित्रता के कारणभूत धर्म की घोषणा हुई; वहीं उसका विरोध करनेवाले भी पाप-प्रवृत्ति में स्वच्छन्द हो गये, परन्तु उनकी पाप-प्रवृत्ति में निमित्त भगवान नहीं थे। भगवान तो मिथ्यात्व के नाशक ही हैं।

आपका उपदेश तो अगाध भव-जल से तिरने के लिए है। चाहे चक्रवर्ती हो, मनुष्य हो, रागी-विरागी, धनवान-निर्धन – सभी को भव-समुद्र से तिरने में आप ही

एक निमित्त कारण हो, भव्यजीवों को तिरने में आपका ही सहारा है। आप ज्ञायकस्वरूप हो, पूर्णानंदस्वरूप हो। आपकी शरण लेनेवालों के संसार नहीं रहता। इन्द्र स्तुति करते हैं कि – हे नाथ! आत्मा का शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप रत्नत्रय दशा आपने पूर्ण की है, आपके उपदेश में आत्महित की यथार्थ ध्वनि निकली है।

कितने ही अज्ञानी जीव भक्तामर स्तोत्र को धन की इच्छा से पढ़ते हैं। भगवान की भक्ति से पैसा और सुख मिलेगा – ऐसा जो मानते हैं, वे भूल में हैं। ऐसी लौकिक कामना से तो पापबंध होता है। मूढ़ जीव शरीर का रोग तो टालना चाहते हैं, किन्तु उससे भिन्न आत्मा का ज्ञान करके सम्यग्ज्ञान द्वारा राग-द्वेष-अज्ञान का भ्रमरोग नहीं टालते। हे नाथ ! आपके चरण-कमल भवसमुद्ररूपी अगाध जल में पड़े हुए भव्यजीवों को तारने में आधार हैं। जैसे छत पर चढ़ते हुए हाथ में रस्सी पकड़ रखी हो तो नीचे नहीं गिरते, वैसे ही हमको आत्मा का यथार्थ भान है और शुभराग के समय आपका आलंबन है। संसार का, शरीर का और भोगों का आलंबन बिलकुल नहीं है; अतः हमें भव-सागर में डूबने का डर नहीं है।

सच्चा भक्त ऐसा समझकर ही भगवान को सम्यक् प्रकार से नमन करता है।

अहा हा ! आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमय अमृतस्वरूप है, किन्तु अज्ञानी को इसका कभी अनुभव नहीं हुआ। इसकारण 'मैं ज्ञान ही हूँ' – ऐसा नहीं जानता, किन्तु 'मैं रागवाला या जहरवाला हूँ' – ऐसा मानता है। इसीकारण वह राग-विकार में स्वरूपपने प्रवर्तन करता है; परन्तु भाई ! राग तो जहर है। बापू ! जहर पीते-पीते अमृत का स्वाद नहीं आयेगा। राग रोग है और 'राग मेरा है' – ऐसी मिथ्या मान्यता महारोग है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

प्रवचनरत्नाकर, भाग : ३, पृष्ठ : ३४

काव्य ३

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चित-पाद-पीठ
स्तोतुं समुद्यत-मतिर्विगत-त्रपोऽहम्।
बालं विहाय जल-संस्थितमिन्दु-बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्।।३।।

हिन्दी काव्य

विबुध-वंद्य-पद मैं मति-हीन, हो निलज्ज थुति-मनसा कीन।
जल-प्रतिबिंब बुद्ध को गहै, शशि-मंडल बालक ही चहै।।३।।

अन्वयार्थ – (विबुधार्चित-पादपीठ !) सुरेन्द्रों द्वारा पूजित है पादपीठ (चरण) या सिंहासन जिनका – ऐसे हे जिनेश्वरदेव ! **(बुद्ध्या विना अपि)** बुद्धिविहीन होने पर भी **(अहं स्तोतुं समुद्यत-मतिः)** मैं (आपकी) स्तुति करने के लिए तत्पर हुआ हूँ **(इति मम-विगत-त्रपः)** यह मेरी निर्लज्जता या धृष्टता ही है। **(जल-संस्थितं इन्दुबिम्बम्)** जल में पड़े हुए चन्द्र के प्रतिबिम्ब को **(बालं विहाय अन्यः कः जनः सहसा ग्रहीतुं इच्छति)** नादान बालक के सिवाय अन्य कौन ग्रहण करना चाहेगा, अर्थात् कोई भी समझदार व्यक्ति चन्द्र-प्रतिबिम्ब को पकड़ने की इच्छा नहीं करेगा।

काव्य ३ पर प्रवचन

देव-देवेन्द्रों द्वारा पूजित हैं चरण-कमल जिनके – ऐसे हे जिनेश्वर देव ! बुद्धिहीन होने पर भी मैं आपकी स्तुति करने के लिए तत्पर हुआ हूँ, यह मेरी निर्लज्जता व धृष्टता ही है। भला जल में दृश्यमान चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पकड़ने की इच्छा एक अबोध बालक के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

यहाँ मुनिवर श्री मानतुङ्गाचार्य कहते हैं कि – हे जिनेन्द्र देव ! आप परम पूज्य देवाधिदेव हैं। तभी तो देवगण आपके पावन चरणों की भक्तिपूर्वक अर्चना करते हैं। लोक-व्यवहार तो ऐसा है कि जिस कार्य में अपनी बुद्धि की पहुँच हो, वही कार्य करना उचित है; परन्तु आपकी भक्ति-स्तुति करने का अदम्य उत्साह

हमारे मन में इतना प्रबल हो रहा है कि अपनी शक्ति की मर्यादा तोड़कर भी आपकी भक्ति करने को हमारा मन तत्पर हुआ है।

हे भगवन् ! आपके जहाँ चरण पड़ते हैं, वह भूमि पवित्र हो जाती है – ऐसे वर्णन में आपके ही गुणों की स्तुति की बात है। जब आप शुक्लध्यान में थे, उस काल और उस क्षेत्र की भूमि भी आपके चरण-कमलों के स्पर्श के कारण आज भी पवित्र मानी जाती है; तब आपके गुणों की क्या बात !''

सर्वप्रथम चरण-कमल के प्रताप की बात कही थी। अब कहते हैं कि ''हे नाथ ! जिस सिंहासन पर आप विराजमान होते हैं, देव उसकी पूजा करते हैं; इन्द्र भी उस सिंहासन को पूज्य मानते हैं। तीर्थंकर और निर्ग्रंथ मुनिराज जहाँ-जहाँ चरण रखते हैं, वीतरागता की रुचिवश धर्मात्मा जीव उन-उन स्थानों को पूजनीय मानते हैं। जहाँ-जहाँ आपके चरण पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ की धूल एवं आसन भी पूज्य हैं – ऐसी वीतरागता का आदर करके धर्मी जीव धर्म का माहात्म्य बढ़ाते हैं।''

जहाँ देवाधिदेव के चरण पड़ते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाता है। हे प्रभु ! आपने पूर्ण परमानन्द स्वरूप को पर्याय में प्रगट किया है, अत: आपके अनन्त आनन्द दशा प्रगट हुई है। हे नाथ ! मैं आपके गुणों की स्तुति करने में अत्यन्त समर्थ हूँ। 'वृष' का अर्थ 'पवित्रधर्म' होता है और 'उत्कृष्ट' भी होता है। अत: जिन्होंने अपनी शक्ति से पर्याय में पवित्रता प्राप्त की, वे भगवन्त ऋषभदेव हैं। वैसे कर्मभूमि के प्रारम्भ में ऋषभदेव नाम के प्रथम तीर्थंकर भी हुए हैं।

हे नाथ ! धर्मी जीवों में जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो, तब तक आपकी सेवा करने का शुभराग आता है। उस समय भक्तिवश नमन आदि रूप देह की क्रिया, देह के योग्य परमाणुओं के कारण अपने स्वकाल में स्वत: होती है, जीव का राग और योगों का कम्पन निमित्तमात्र है। राज्य के काल में राग स्वत: आता है – ऐसा वस्तु का स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

हठ और विपरीत अभिप्रायरहित तीर्थंकर परमात्मा के प्रति बहुमान लानेवाली भक्ति स्वयं उछलती है, तब अनेक विशेषणयुक्त अलंकारों से स्तुति की जाती है। तीर्थंकर भगवान तो पूज्य हैं ही, किन्तु निश्चय से अपने अन्तरंग में निज

शुद्ध चैतन्य आत्मा भगवान स्वरूप है – ऐसी धारणा जिसने की तो उसने व्यवहार में सर्वज्ञ भगवान को माना – ऐसा कहा जाता है। समयसार में एक प्रश्न किया गया है कि केवली भगवान की स्तुति किसने की ? तो वहाँ (गाथा ३१, ३२, ३३ में) कहा गया है कि जो भेदज्ञान द्वारा ज्ञेय-ज्ञायक संकर-दोष दूर कर जितेन्द्रिय हुए हैं, उन्होंने ही केवली भगवान की यथार्थ स्तुति की है।

जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों से भिन्नता और ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता करता है, वह भगवान की स्तुति करता है। दूसरों ने भगवान की स्तुति की ही नहीं।

हमारी श्रद्धा में तो असली स्वरूप का ही आदर है, इसलिए निश्चय-दृष्टि से तो मुक्त ही हैं, किन्तु श्री मानतुङ्गाचार्य को विकल्प उठा कि मुझे कैद में डाल दिया, इससे जैनधर्म की निन्दा होगी। इस विकल्प के काल में विकल्प मेटने के लिए मुनि तो भक्तिरस में लीन होते हैं और उसी काल में कारागार के ताले टूट जाते हैं और वे मुनि कारागार से बाहर निकल आते हैं, किन्तु वह सब पुण्य का प्रभाव था। जो राग हुआ, उसमें ज्ञानी को कर्तृत्वबुद्धि नहीं है। यदि कोई ऐसा माने कि ऐसा राग करने योग्य है तो वह मिथ्यादृष्टि है।

धर्मात्मा आपको नित्य याद करते हैं एवं भक्ति-स्तुति करते हैं। बड़े-बड़े देव भी आपके चरणों की सेवा करते हैं तथा कहते हैं कि प्रभु ! आपके केवलज्ञान है, मेरे नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है –

यही परमपद प्राप्त कर सकूँ ध्यान में,
मनन चिन्तवन आत्ममनोरथ रूप को।
तो यह निश्चय 'रायचन्द्र' मन में धरो,
प्रभु आज्ञा से पाऊँ, स्वयं स्वरूप को।
यही मार्ग जीवन को सफल बनायेगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आयेगा।।

हे सर्वज्ञ भगवन् ! आपने जो परमपद देखा, उसे प्रगट करने का मेरा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? उस अवसर का मात्र अनन्तवाँ भाग ही वाणी के संकेतों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यह प्रस्तुत विषय सम्यग्दृष्टि मुनि का है, किन्तु

भक्त का मनोरथ केवलज्ञान प्राप्त करने का है। आपके द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग में मेरी श्रद्धा है। पंचमकाल में इस क्षेत्र में केवलज्ञानी का तो अभाव है, इसलिए परमपद की भावना द्वारा केवलज्ञान का गाना गाते हैं। केवलज्ञान श्रुतज्ञान से अनन्त गुना है। मैं आपकी स्तुति करनके की हिम्मत तो करता हूँ, किन्तु उसमें लज्जा आती है; क्योंकि उसका अर्थ है कि जब मेरे अल्पज्ञता मिटकर केवलज्ञान होगा, तब आपके समान हो जाऊँगा; किन्तु वर्तमान में मात्र श्रद्धा है, अभी चारित्र में इतनी सामर्थ्य नहीं है। मुझे अपनी पर्याय की तुच्छता व लघुता और द्रव्य की प्रभुता का भान है। अपनी पामरता को ध्यान में रखकर ही आपकी प्रभुता का वर्णन किया है।

हे नाथ ! मेरी बुद्धि बहुत अल्प है, तथापि आपकी स्तुति में उद्यमी हुआ हूँ। मेरे पास तो तीन ज्ञान भी नहीं हैं, फिर भी मैं आपका स्तवन करने खड़ा हूँ। मेरी बुद्धि पूर्णस्वभाव का आश्रय करने को उद्यत हुई है, इसलिए आपके प्रगट पूर्णस्वभाव की भक्ति करता हूँ। जैसे बालक चन्द्रबिम्ब को पकड़ने की चेष्टा करता है, उसीप्रकार आपकी स्तुति करने की मेरी चेष्टा भी हास्यास्पद है। मैं केवलज्ञान की अपेक्षा बालक ही हूँ, फिर भी मैं केवलज्ञान-प्रकाश की स्तुति द्वारा आपकी प्रभुता एवं पवित्रता का गाना गाता हूँ। कोई मुझे अविचारी कहे तो भले ही कहो, मुझे इसकी परवाह नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ स्वभाव मेरे सन्मुख ही है, मेरी अन्तर आत्मा में ऐसी दृढ़ता कार्य कर रही है। मुझमें केवलज्ञान की शक्ति है, पर्याय में पूर्णता नहीं हुई; इसलिए पर्याय में पूर्णता प्रगट करने के लिए मैं केवलज्ञान की स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ।

प्रश्न : आत्मा में केवलज्ञान की शक्ति मान लेने पर भी हमारी पर्याय में से अज्ञान दूर क्यों नहीं होता ?

उत्तर : प्रकाश होने पर भी अन्धकार रहे – ऐसा कभी नहीं होता। त्रैकालिक सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के सन्मुख होकर 'जिस समय जो होना है, वह होगा।' इसका निर्णय जिसने नहीं किया, उसमें केवलज्ञान की अश्रद्धारूप अज्ञानदशा कारण है। इस जगत में केवलज्ञान है, इसका निर्णय जिसे करना हो, उसे उसके स्वरूप का निश्चय होना चाहिए। केवलज्ञान का निर्णय अल्पज्ञता और राग के

आश्रय से नहीं होता; निचली दशा में राग-द्वेष तो होता है, किन्तु उसको गौण कर पूर्ण स्वभाव की तरफ लक्ष्य करे तो केवलज्ञान की प्रतीति हो।

केवलज्ञान का निर्णय करे तो अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा का भान हो। स्व और पर की अवस्था क्रमबद्ध होती है – ऐसा निर्णय करने से अनन्त पदार्थों का अहंकार समाप्त हो जाता है। 'मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ' – यह निर्णय करना सम्यग्दर्शन है। पर्याय में केवलज्ञान नहीं है, उस अपेक्षा से मैं बालक हूँ। पर्याय में कमजोरी है; अतः तीन काल, तीन लोक के ज्ञाता केवलज्ञान की मैं अपने आत्मघर में स्थापना करता हूँ।

हे जिनेन्द्र ! जिसप्रकार लज्जारहित बालक जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है, उसीप्रकार मैं लज्जा एवं विवेकरहित आपकी स्तुति करने की चेष्टा करता हूँ। श्रद्धा में केवलज्ञान का यथार्थ स्वरूप है, किन्तु वह पर्याय में प्रगट नहीं हुआ है; इसलिए आपकी स्तुति का यह असफल प्रयत्न किया है।

श्री रामचन्द्रजी ने बाल्यकाल में चन्द्रमा को देखा, उन्होंने उसे पकड़ना चाहा; पर वह हाथ में न आया, तब वे रोने लगे। राजा अपने मंत्री से कहते हैं कि मंत्रीजी ! यह पुरुषोत्तम चरमशरीरी राम क्यों रोता है ? उसका समाधान करो। मंत्री ने ध्यान से देखा कि रामचन्द्रजी चन्द्रमा को सामने देखकर उछलते हैं एवं रोते हैं। इससे मंत्री समझ गया कि श्री राम चन्द्रमा को नीचे उतारना चाहते हैं। उन्होंने श्रीराम को दर्पण में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाकर जेब में रख दिया, तब श्री रामचन्द्रजी शान्त हो गये।

उसीप्रकार ज्ञानी कहता है कि भाई ! तेरा आत्मा सिद्धपरमात्मा समान है। यद्यपि सिद्ध भगवान ऊपर से नीचे नहीं आते, किन्तु उनकी प्रतीति करे, श्रद्धा करे तो तेरे ज्ञान में केवलज्ञान का प्रतिबिम्ब भासने लगेगा और उसकी लगन के बल से तू अनंतानंत सिद्ध परमात्माओं के पास पहुँच जायेगा।

जिनगुणरयणं महाणिहि लद्ध ण वि किं ण जाइ मिच्छत्तं।
अह लेहेवि णिहाणो किवणाणं पुणो वि दारिद्दं॥२५॥

जिनेन्द्र भगवान के गुणरूपी रत्नों का महा भंडार प्राप्त करके भी मिथ्यात्व कैसे नहीं जाता ? यह महान आश्चर्य है ! अथवा निधान प्राप्त करके भी कंजूस मनुष्य तो दरिद्र ही रहता है – इसमें भी क्या आश्चर्य है। – **उपदेश सिद्धांत रत्नमाला, गाथा २५**

काव्य ४

वक्तुं गुणान्गुण-समुद्र-शशाङ्क-कान्तान्
कस्ते क्षमः सुर-गुरु-प्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-नक्र-चक्रं
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम्॥४॥

हिन्दी काव्य

गुन-समुद्र तुम गुन अविकार, कहत न सुर-गुरु पावैं पार।
प्रलय-पवन-उद्धत जल-जन्तु, जलधि तिरै को भुज-बलवंतु॥४॥

अन्वयार्थ – **(गुण-समुद्र)** हे गुणों के समुद्र ! हे गुणसागर ! **(सुर-गुरु-प्रतिमः बुद्ध्या अपि)** बृहस्पति जैसे बुद्धिमान भी **(ते शशाङ्क-कान्तान् गुणान्)** आपके चन्द्रमा की कान्ति के समान निर्मल गुणों को **(वक्तुं क्षमः)** कहने में – वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं **(अन्यः कः क्षमः)** तो फिर अन्य किसकी शक्ति है, जो आपके गुणों का वर्णन कर सके ? **(कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-नक्र-चक्रम्)** प्रलयकाल के तेज नक्र-चक्रम् अर्थात् तूफानी थपेड़ों से उछल रहे हैं मगरमच्छ, घड़ियाल आदि भयंकर जलजंतु जिसमें – ऐसे **(अम्बुनिधिं)** समुद्र को **(भुजाभ्याम् तरीतुम्)** दोनों भुजाओं से तैरने में **(कः अलम्)** कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं।

काव्य ४ पर प्रवचन

हे गुणों के समुद्र ! हे नाथ ! आप उपशमरस से भरे हुए हो। आपके गुणों का वर्णन देवताओं के गुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते हैं तथा राग और वाणी द्वारा निर्मलानन्द चैतन्य की स्तुति नहीं हो सकती है। अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर अन्तर में ठहरने से अपनी निश्चय-स्तुति होती है।

जिसप्रकार प्रलयकाल की तूफानी हवाओं से उद्वेलित, आकाश तक तरंगित लहरोंवाले भयंकर समुद्र को नादान बालक अपनी कमजोर भुजाओं से

पार पाने में समर्थ नहीं होता है; उसीप्रकार हे नाथ ! आप अनन्त गुणों के सागर हो, आपके गुणों का पार पाने में कौन समर्थ हो सकता है ?

जब प्रलयकाल जैसी हवा चलती हो, समुद्र डाँवाडोल होकर आकाश में उछाले ले रहा हो, बड़े-बड़े मगरमच्छ मुँह फाड़े बैठे हों – ऐसे समुद्र को अपनी निर्बल भुजाओं से तैरने में कौन समर्थ हो सकता है ? जिसप्रकार ऐसा समुद्र तरना अशक्य है, उसीप्रकार हे प्रभो ! आपके गुण-समुद्र को पार करना भी अशक्य है।

जब मिथ्यात्वरूप हठ को छोड़कर अन्तर्मुख होकर निर्विकल्प विज्ञानघन स्वभाव में ठहरे; तब निश्चय से आपकी भक्ति, सेवा, आराधना हुई कहलाती है।

द्वितीय शताब्दी के महान दिग्गज आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी स्वयम्भू स्तोत्र में कहते हैं कि – हे नाथ ! अभव्य जीव आपकी स्तुति नहीं कर सकते, क्योंकि अभव्य जीव वस्तुतः आपको नमन ही नहीं करते। यद्यपि अभव्य व्यवहार से नमस्कार करते हैं, देव-शास्त्र-गुरु को मानते हैं, यदि नहीं मानें तो नौवें ग्रैवेयक तक कैसे जा सकते हैं ? परन्तु वे आपको पहचानते नहीं हैं। उन्हें स्वभाव का माहात्म्य नहीं आता, अतः वे भी वस्तुतः भगवान की स्तुति नहीं करते। अपने मिथ्या अभिप्राय की ही सेवा-भक्ति करते हैं।

अभव्य व भव्य मिथ्यादृष्टि भले ही ग्यारह अंग के पाठी हों, व्यवहार पंचाचार का पालन करें, द्रव्यलिंगी मुनि होवें; फिर भी अन्तर में भेदविज्ञान नहीं है, जिन-आज्ञा का भावभासन नहीं हुआ है; क्योंकि रुचि विपरीत है, मिथ्या है।

यहाँ कोई पूछता है कि पहले तो आपने ऐसा कहा था कि आत्मा के अवलम्बन से सर्व पापों का नाश होता है और यहाँ भगवान की भक्ति, स्तुति, वन्दना, गुणानुवाद आदि निमित्तों से पापों का नाश होना कहा है; इसका क्या अभिप्राय है ?

इसका उत्तर इसप्रकार है –

पहले निश्चयभक्ति की बात कही थी। यहाँ व्यवहारभक्ति की बात है और मिथ्यादृष्टि के तो वास्तव में यथार्थ भक्ति है ही नहीं, इसलिये उसके वास्तव में पाप नष्ट ही नहीं होते। मिथ्यादृष्टि अपनी अंधश्रद्धा से भले ही भगवान का नाम लेता हो, पर वास्तव में तो वह आस्रव व बन्ध तत्त्व की ही उपासना करता है; अतः संसार-भोग के हेतुभूत अर्थ का ही आदर करता है। वास्तव में अभव्य या भव्य मिथ्यादृष्टि तो भगवान को नमते ही नहीं हैं, किन्तु जिन्हें निर्मल चैतन्यस्वभाव का बहुमान आया है, वह ही भगवान को नमता है और वही निज महिमा में रमता है। जो निश्चयसहित व्यवहारभक्ति के स्वरूप को जानता है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव का जिसे भान हुआ है अर्थात् जो वीतरागता की रुचि में वीतरागी भगवान की भक्ति करता है, वह निःसंदेह से कहता है कि हे नाथ ! मैं भी आपकी तरह निज-स्थिरता करके केवलज्ञान प्राप्त करूँगा।

ज्ञान की विनय

जैनधर्म के चारों अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है। धर्मी जीव वीतरागी तात्पर्य बतलाकर चारों अनुयोगों का प्रचार करे।

प्रथमानुयोग में तीर्थंकरादि महान धर्मात्माओं के जीवन की कथा, चरणानुयोग में उनके आचरण का वर्णन, करणानुयोग में गुणस्थान आदि का वर्णन और द्रव्यानुयोग में अध्यात्म का वर्णन – इन चार प्रकार के शास्त्रों में वीतरागता का तात्पर्य है। इन शास्त्रों का बहुमानपूर्वक स्वयं अभ्यास करे, प्रचार और प्रसार करे।

जवाहरात के गहने या बहुमूल्य वस्त्र आदि को कैसे प्रेम से घर में सँभालकर रखते हैं, इसकी अपेक्षा विशेष प्रेम से शास्त्रों को घर में विराजमान करे और सजा करके उनका बहुमान करे – यह सब ज्ञान का ही विनय है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

श्रावक धर्मप्रकाश, पृष्ठ : ५९-६०

काव्य ५

सोऽहं तथापि तव भक्ति-वशान्मुनीश
कर्तुंस्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्म-वीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रं
नाभ्येति किं निज-शिशोः परिपालनार्थम्॥५॥

हिन्दी काव्य

सो मैं शक्तिहीन थुति करूँ, भक्तिभाव वश कुछ नहिं डरूँ।
ज्यों मृगि निज-सुत पालन हेत, मृगपति सन्मुख जाय अचेत॥५॥

अन्वयार्थ – **(तथापि)** फिर भी **(मुनीश !)** हे मुनीश्वर ! [**ऋषभदेव**] **(सः)** वह शक्तिहीन **(अहम्)** मैं [**मानतुङ्ग**] **(विगत-शक्तिः-अपि)** सामर्थ्यहीन होते हुए भी **(भक्तिवशात्)** भक्तिवश **(तव स्तवं कर्तुं प्रवृत्तः)** आपके गुणों का कीर्तन करने के लिए तत्पर हुआ हूँ। जैसे **(मृगी प्रीत्या आत्म-वीर्यम् अविचार्य)** हिरणी प्रीतिवश अपनी शक्ति को बिना विचारे ही **(निज-शिशोः परिपालनार्थम्)** अपने बच्चे की रक्षा करने के लिए **(किं मृगेन्द्रं न अभ्येति)** क्या सिंह का सामना नहीं करती है ? अर्थात् करती ही है। उसीप्रकार मैं भी आपकी भक्ति में प्रवृत्त हुआ हूँ।

काव्य ५ पर प्रवचन

आचार्य यहाँ निश्चय-व्यवहार की बात करते हैं।

अज्ञानी जीव लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए 'भक्तामर' पढ़कर कार्य का आरम्भ करते हैं, दुकान आदि खोलते हैं और ऐसा मानते हैं कि भक्तामर के पाठ से हमारा व्यापार-धन्धा अच्छा चलेगा, पैसा मिलेगा आदि। और भी ऐसी ही अनेक प्रकार की अपेक्षायें व आशायें रखते हैं; लेकिन ऐसी आशायें वृथा हैं, क्योंकि पुण्य के बिना धनादि अनुकूल संयोग नहीं मिलते और धनादि की आशा से पाठ करे तो नये पुण्यबन्ध के स्थान पर पूर्व का पुण्य क्षीण होता है और नया पाप ही बँधता है।

नियमसार में श्री पद्मप्रभमलधारी देव कहते हैं – 'हे मुनिजनो ! देवताओं की ऋद्धि तथा वैभव देखकर क्या तुम्हें भी उसकी इच्छा होती है ?' शुभविकल्प की वृत्ति अस्थिर है, अत: उसका तथा उसके फल का आदर करना योग्य नहीं है। धर्मी जीव यद्यपि भोगादि की सामग्री नहीं चाहते, फिर भी उन्हें सहज ही मिलती है। तू अपने अन्तर के ज्ञानानंदमय साम्राज्य की महिमा को छोड़कर लौकिक लाभ की - भौतिक साम्राज्य की इच्छा मत कर !

श्री मानतुङ्ग कहते हैं कि हे मुनिनाथ ! वर्तमान में यद्यपि केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति नहीं है, फिर भी हम केवलज्ञान के गीत गाते हैं। हे परमेश ! हे परमात्मा ! आप परमेष्ठीपद में परिपूर्ण ईश्वर हो। हमारी मुनिदशा वर्तती है और आपके केवलज्ञान वर्त रहा है। केवलज्ञान लेने की सामर्थ्य वर्तमान में हममें नहीं है, फिर भी भक्तिवश वीतरागता के प्रति हमारा उल्लास आपकी स्तुति करने को प्रेरित करता है।

जिसप्रकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव नियमसार शास्त्र के कलश में कहते हैं – हमारा मन आगम के सार को कहने में उद्यत हुआ है। उसीप्रकार यहाँ श्री मानतुङ्ग आचार्य कहते हैं कि आपकी स्तुति करने में मेरी बुद्धि सावधान हुई है, उद्यत हुई है। यद्यपि मुझमें शक्ति नहीं है, फिर भी मैं कहता हूँ।

जिसप्रकार सिंह हिरनी के बच्चे को मारने के लिए दौड़ता है, तब हिरणी अपनी शक्ति को विचार किये बिना ही उसका प्रतिकार करने को उद्यत हो जाती है; उसीप्रकार यद्यपि मेरी पर्याय में बहुत कमजोरी है, तथापि मैं आपकी भक्ति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। केवलज्ञान की महिमा मेरे ख्याल में है, अत: परमात्मा के प्रति मेरे हृदय में भक्ति भावना उल्लसित हो रही है। जिसप्रकार मृगी अपने बच्चे को बचाने के लिए सिंह के सामने जाती है, उसीप्रकार हे भगवन् ! मेरी साधक दशा बच्चे के समान है, अत: उसके परिपालन के लिए आपके प्रति भक्ति का प्रेम उमड़ता है। उसमें कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की भक्ति कभी नहीं आती, किन्तु विकल्प आये तो मुख्यतया आपकी ही भक्ति का विकल्प आता है।

हे भगवन् ! जिसप्रकार शक्ति न होते हुए भी हिरणी अपने बच्चे को बचाने

के लिए सिंह के सम्मुख दौड़ती है, उसीप्रकार साधक जीव केवलज्ञान के सम्मुख जाता है।

अज्ञानी मानता है कि भक्तामर स्तोत्र का पाठ करने से पैसा मिलता है, रोगादि दूर होते हैं; किन्तु भाई ! यह दुखदायक अज्ञानभाव है। हित-अहित अपने भावों के अनुसार ही होता है, यहाँ तो सच्ची समझ सहित ज्ञानी साधकजीव पूर्णज्ञान प्रगट करने में तत्पर हो रहा है। श्रीमद् रायचन्द्रजी ने 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य में पूर्णस्वरूप प्रगट कब करूँगा – ऐसी भावना की है। उसमें केवलज्ञान के सन्मुख होने की भावना की है। अभी अल्पज्ञान है, इसलिए पूर्णता की प्राप्ति के लिए केवलज्ञान की भक्ति करता हूँ। शक्ति न होते हुए भी आपकी (परमात्मा) की भक्ति करता हूँ; इसमें अन्य कोई हेतु नहीं है। दुनिया की प्रशंसा या यश की चाह नहीं है। आत्मा के परिपूर्ण ज्ञान की प्रतीति है, उसी के अनुकरण करने की भक्तिरूप राग आता है। हे नाथ ! मुझे आपकी ही प्रीति है। स्वर्ग या इन्द्रपद की इच्छा नहीं है। पूर्ण स्वभाव प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये इस जाति का राग आता है। 'राग करने योग्य है' – ऐसा मैं नहीं मानता।

श्री मानतुङ्गाचार्य पंचमकाल के मुनि थे, वे पूर्णस्वभाव को ध्येय बनाकर उस तरफ ही दौड़ लगा रहे हैं। भक्तामर काव्य की रचना करते हुए वे कहते हैं कि यदि कोई मेरी बात की हँसी करता है तो करे, उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं है; क्योंकि संयोग और पर्याय की ओर देखनेवाले क्या कहेंगे ? – यह बात हम भली-भाँति जानते हैं।

शास्त्रों में मुनियों के द्वारा जिस अरहन्त-सिद्ध दशा का वर्णन किया गया है, वे अरहन्त वीतराग भगवान तो वर्तमान में यहाँ विराजमान हैं नहीं, तब इतनी अधिक भक्ति क्यों ? इसप्रकार कोई प्रश्न करे तो उसका विवेचन छठे श्लोक में आगे किया गया है, वहाँ से जान लेना।

हे नाथ ! मुझे भक्ति का उत्साह आपके गुणानुवाद करने के लिए प्रेरित करता है।

आचार्य महाराज को स्वयं भक्ति का उत्साह आया है, उसमें वे वीतराग के प्रति बहुमान करके स्वयं की वीतरागी रुचि का विस्तार करते हैं, उसमें भगवान तो मात्र निमित्त हैं। आत्मा का परमार्थ स्वभाव शुद्ध है, वह जिसे रुचा है, उसे भगवान के प्रति भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता।

लोग कहते हैं – आप भगवान की भक्ति को धर्म तो कहते नहीं, मात्र पुण्य कहते हैं तो फिर ज्ञानी धर्मात्मा भक्ति किसलिए करते हैं ?

भाई ! वह (भक्ति) पुण्य है, परन्तु जबतक पूर्ण वीतराग दशा न हो, तबतक ज्ञानी धर्मी जीवों को अन्तर में निश्चयरूप अभेद भक्ति की मुख्यता सहित भगवान के प्रति बहुमानरूप आनन्द आये बिना नहीं रहता, वह व्यवहारभक्ति है। निश्चय के भान बिना अनन्तबार कल्पवृक्ष के पुष्पों और मणिरत्नों के दीपक से साक्षात् समवशरण में जाकर भगवान की पूजा की, यहाँ उसकी बात नहीं है; परन्तु आत्मभान सहित भक्ति की बात है। जिसे निश्चयभक्ति प्रगट हुई हो, उसे भगवान के प्रति भक्ति का उत्साह आये बिना नहीं रहता।

भक्ति में हिरणी की उपमा दी है कि – जैसे सिंह हिरणी के बच्चे को पकड़े तो हिरणी अपनी शक्ति को बिना विचारे ही उसका सामना करती है, उसीप्रकार हमें भी आपकी भक्ति का भाव जागृत हुआ है। हमें अपनी आत्मा का भान है और आप तो पूर्ण चैतन्य-प्रतिमा हो गये हो, इसलिए आपके प्रति भक्तिभाव आता है। यद्यपि आपके अनन्तगुणों का अनुसरण करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है, फिर भी भक्ति का उत्साह बलपूर्वक आपकी भक्ति करवाता है। वहाँ पुराने पापों का संक्रमण होकर सहज पुण्य हो जाता है। यद्यपि वह पुण्यानुबंधी पुण्य बाँधता है, फिर भी ज्ञानी भक्त की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है, बल्कि ज्ञानी की दृष्टि में उस पुण्य का निषेध ही वर्तता है।

श्री मानतुङ्ग आचार्य को बंधन में डालने पर उन्होंने जब भक्तिकी, तब ताले टूटे; उसीप्रकार यह आत्मा अन्तर्मुख एकाग्रतारूप निश्चयभक्ति में उपयोग लगावे तो १४८ कर्मप्रकृतियों के बंधनरूपी ताले टूट जाते हैं। प्रथम वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा होने पर ही, आत्मभान द्वारा वे कर्म-बंधन टूटने लगते हैं।

काव्य ६

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास-धाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चाम्र-चारु-कलिका-निकरैकहेतुः ॥६॥

हिन्दी काव्य

मैं शठ सुधी हँसन को धाम, मुझ तव भक्ति बुलावै राम।
ज्यों पिक अंब-कली-परभाव, मधु-ऋतु मधुर करै आराव॥६॥

अन्वयार्थ – (अल्प-श्रुतम्) मैं अल्पश्रुत का अभ्यासी, अल्पज्ञानी हूँ– शास्त्रों का विशेष जानकार नहीं हूँ [**अतः**] **(श्रुतवताम्)** विद्वानों के द्वारा **(परिहासधाम)** हँसी का पात्र बनूँगा [**तथापि**] **(माम् त्वद्भक्तिः एव बलात् मुखरीकुरुते)** मुझको आपकी भक्ति ही बलपूर्वक वाचाल कर रही है, भक्ति करने के लिए विवश कर रही है। **(किल)** निश्चय ही **(यत् कोकिलः)** जो कोयल **(मधौ मधुरं विरौति)** वसंत ऋतु में मधुर स्वर में बोलती है, कूजती है या कुहुकती है **(तत्-चाम्र-चारु-कलिका)** उसमें सुन्दर आम्रवृक्षों के बौर [**मंजरी**] का **(निकर-एक-हेतुः)** समूह ही एकमात्र हेतु है – कारण है। [अन्यथा वह कोयल वसंत के सिवा अन्य ऋतु में क्यों नहीं बोलती] जैसे कोयल को आम्रमंजरी मधुर बोलने के लिए प्रेरणाकेन्द्र है, वैसे ही मुझे आपकी भक्ति ही स्तुति करने के लिए प्रेरित करती है।

काव्य ६ पर प्रवचन

हे प्रभु ! मैं अल्पज्ञ हूँ, विद्वानों के समक्ष उपहास का पात्र हूँ – ऐसा कहने में आचार्य की निर्मानता-निरभिमानता झलकती है।

हे नाथ ! मैं अल्पज्ञानी हूँ; तथापि मुझे अपने स्वरूप का भान वर्तता है, अपने पूर्णस्वभाव के प्रति अखण्ड प्रेम वर्तता है। पूर्ण वीतरागी नहीं हूँ, अतः मेरा उत्साह तुम्हारी तरफ भी ढलता है। जिसप्रकार वसंत-ऋतु में आम्रवृक्ष में

कोमल कोंपलें, मंजरी, बौर आते हैं, उन्हें देखकर कोयल कूजने लगती है। आम के बौर देखकर कोयल के कण्ठ में मिठास भर आती है और वह मीठी-मीठी आवाज में कूजने लगती है; उसीप्रकार हे भगवन् ! मैं अल्पज्ञानी हूँ, कहाँ आपकी उत्कृष्ट पैढ़ी (पदवी) और कहाँ मैं पामर ! आपकी पैढ़ी पर मुनीम के रूप में भी बैठ सकूँ – ऐसी सामर्थ्य मुझमें कहाँ ? जिसप्रकार अरबपति सर्राफ की पैढ़ी पर – गद्दी पर कुम्हार जैसे किसी सामान्यजन को बिठाये तो वह हँसी का पात्र होगा; उसीप्रकार मेरी स्थिति है, परन्तु उस अल्पज्ञता को मैं आपकी भक्ति के काल में भूल जाता हूँ। आपकी भक्ति का उत्साह प्रमोद मुझे भक्ति करने के लिए वाचाल कर रहा है। आपका परमात्म-स्वभाव पूर्ण हुआ है; उसकी परम प्रीति हमें बलात् आकर्षित कर भक्ति करने के लिए लाचार करती है। देखो ! धर्मी जीवों को मानादि गलाने की, निरभिमानी होने की और अन्तर्मुख जागृत रहने की भावना होती है, जिससे इस जाति का शुभराग आये बिना नहीं रहता। भक्ति का राग बलपूर्वक आता ही है।

'आचार्य छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलते हैं।' तथापि वे कहते हैं कि हे नाथ ! भक्ति का उत्साह मुझे बलात् ऐसा करने के लिए प्रेरित करता है। भक्ति का भाव - शुभराग लाना नहीं पड़ता; परन्तु भूमिकानुसार स्वयं आता ही है। ज्ञानी उसे भी ज्ञाता-दृष्टापने जानते हैं, उपादेय नहीं मानते।

भक्ति की प्रेरणा ही मुझे वाचाल करती है। वाणी का निकलना तो जड़ की क्रिया है; परन्तु अन्दर में शुभराग आये बिना नहीं रहता। पूर्ण चारित्रदशा हुई नहीं, इसलिए शुभराग आता है। जिसप्रकार चैत्र मास में सम्पूर्ण आम्रवन में बौर लग रहे हों, तब कोयल मीठे-मीठे शब्द बोलती है, उसमें आम्रमंजरी (बौर) ही एक कारण है; उसीप्रकार मुझे जो शुभराग आता है, उसमें भी केवल आपकी भक्ति ही एकमात्र कारण है। पूर्ण वीतरागदशा नहीं हुई, जिससे यह राग आता है। विद्वान् भले ही अतिशय अलंकारयुक्त स्तोत्रों से आपकी भक्ति करें, परन्तु मैं तो अल्पज्ञ हूँ, मैं आपकी स्तुति कैसे कर सकता हूँ ? किन्तु क्या करूँ ? भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता। आपकी भक्ति ने मुझे वाचाल बना दिया है।

जैसे वसंत ऋतु में कोयल कूजती है; उसीप्रकार धर्मात्मा को आत्मा के भान की भूमिका में सम्यग्ज्ञान कला खिलती है। वहाँ परमात्मा की भक्ति का राग आये

बिना नहीं रहता। वाणी तो वाणी के कारण निकलती है। फिर भी ऐसा कहा जाता है कि हम वचन द्वारा भगवान की स्तुति करते हैं – यह व्यवहार कहलाता है।

हे नाथ ! जिसप्रकार आप पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञस्वरूपस्थ प्रतिमावत् स्थिर-अक्रिय हो गये हैं; मुझे भी इसीतरह स्वरूप में ठहरना है, परन्तु जब तक पूर्ण वीतराग दशा न हो, तब तक ऐसा (भक्ति का) शुभराग आये बिना नहीं रहता है, अत: आपके गुणगान (भक्ति) करता हूँ।

प्रश्न : जब पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता तो फिर ऐसी मोक्ष की बात ही क्यों करते हो ? ऐसा कोई कहे तो भले कहो, किन्तु भाई ! चैत्रमास में जब आम्र फलता है, तब कोयल कूजती ही है; उसीप्रकार इस समय आत्मा के धर्म की प्राप्ति का काल पका है – इसकारण आत्मा की चर्चा या मोक्षमार्ग की चर्चा किये बिना भी रहा ही नहीं जाता। भक्ति के भाव की तरह तत्त्वचर्चा का भाव भी पुण्य का भाव भले ही हो, परन्तु निश्चय से तो चैतन्य आनन्दस्वरूप आत्मा श्रद्धा में बैठा है। भगवान की भक्ति के उत्साह के वश होकर धर्मी जीव वाणी से वाचाल हुए बिना नहीं रहते। आचार्य कहते हैं कि मुझे योग्यकाल में योग्य विकल्प आता है, इसलिए आपकी भक्ति करता हूँ।

कोऊ देवादिक सहायी नाहीं.....

...तातैं ऐसा निश्चय है – जो अशुभकर्म का उपशम हुए बिना अर शुभकर्म का उदय हुए बिना कोऊ देवादिक सहायी नाहीं होय है। अपना देह ही वैरी हो जाय है। खरदूषण के पुत्र शंबुकुमार ने महापुरुषार्थकरि द्वादश वर्ष पर्यंत बाँस के बींड़ा में सूर्यहास खड्ग सिद्ध किया, अर लक्ष्मण ने उसे सहज ही प्राप्त कर लिया; अर उसी खड्गसूँ खरदूषण के पुत्र शंबुकुमार का ही मस्तक छेद दिया।

अपने हित के अर्थि साधन की हुई विद्या से आप ही का घात हुआ। तातैं पूर्वकर्म का उदयकरि अनेक उपकार, अपकार प्रवर्तैं हैं। कोऊ देवादिक की आराधना करने से धन, आजीविका, स्त्री-पुत्रादिक देने में समर्थ नहीं हैं। श्री कार्तिकियस्वामी ने कार्तिकियानुप्रेक्षा में कहा भी है –

णय को वि दे दि लक्छी, ण कोवि जीवस्स कुणदि उवयारे।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥३१९॥

– **पण्डित सदासुखदास :** रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ : ४९

काव्य ७

त्वत्संस्तवेन भव-सन्तति-सन्निबद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त-लोकमलि-नीलमशेषमाशु
सूर्यांशु-भिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥७॥

हिन्दी काव्य

तुम जस जंपत जन छिनमाहिं, जनम-जनम के पाप नशाहिं।
ज्यों रवि उगै फटै तत्काल, अलिवत् नील निशा-तम-जाल॥७॥

अन्वयार्थ – **(त्वत्संस्तवेन)** आपके स्तवन से **(शरीर-भाजाम्)** देहधारी-संसारी प्राणियों का **(भव-सन्तति-सन्निबद्धं पापम्)** भव-भवान्तरों से बँधा हुआ पापकर्म **(क्षणात् क्षयं उपैति)** क्षणभर में विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे कि **(आक्रान्त-लोकं)** समस्त लोक में फैला हुआ **(अलि-नीलम्)** भ्रमर के समान काला-घना **(शार्वरं अन्धकारम्)** रात्रि का अन्धकार **(अशेषं आशु)** सम्पूर्ण रूप से शीघ्र ही **(सूर्यांशु-भिन्नं इव)** सूर्य की किरणों से छिन्न-भिन्न हो जाता है।

अर्थात् हे प्रभो ! जिसतरह सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही भ्रमरसमूह के समान रात्रि का काला सघन अंधकार विलुप्त हो जाता है, उसीतरह आपके गुणकीर्तन से (स्तवन से) प्राणियों के जन्म-जन्मान्तरों से उपार्जित एवं बँधे हुए पापकर्म क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।

काव्य ७ पर प्रवचन

भवरहित भगवान की भक्ति करने वाले भक्त के अन्तरंग में आत्मा का प्रभुत्व भासित होता है, परमात्मा ने पूर्ण सर्वज्ञदशा प्रगट की है, उनका यथार्थ विश्वास जिसने किया, वह वीतरागदृष्टि एवं शान्त परिणामवाला धर्मात्मा होता है।

लोग कहते हैं कि यदि केवलज्ञान के अनुसार सबकी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, तब धर्म का पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उसका समाधान इसप्रकार है – जिसने सर्वज्ञ स्वभावी ध्रुव आत्मा के लक्ष्य

सहित केवलज्ञान को स्वीकार कर लिया, उसे नि:संदेह ज्ञायक स्वभाव की रुचि और आदर होता है। सर्वज्ञ ने केवलज्ञान में जो-जो जैसा देखा-जाना है, वह उसीसमय वैसा ही क्रमबद्ध होता है – ऐसी श्रद्धा वाले के भव-भ्रमण (संसार) का भाव नहीं रहता। जिसने केवलज्ञान की सत्ता स्वीकार की अथवा क्रमबद्धपर्याय का नियम सम्यक् प्रकार समझ लिया है, वह स्व-सन्मुख ज्ञाता-दृष्टा होकर पर का अकर्ता हो जाता है। उसकी दृष्टि नित्य निर्मल ज्ञानस्वभाव में चली गई है, इसकारण बंधभाव छूट गया है और उसका मोक्षमार्ग खुल गया है। नि:संदेह इस ज्ञाताभाव में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। कोई क्रमबद्धपर्याय को माने, किन्तु उसकी सर्वज्ञता की दृष्टि व अन्तर्मुखी प्रवृत्ति न हो – ऐसा होता ही नहीं है। मैं देह-मन-वाणी या पुण्य-पाप की स्तुति नहीं करता; किन्तु हे सर्वज्ञदेव ! अनन्तगुण सम्पन्न आप ही के गाने गाता हूँ। आप एक समय में तीन काल और तीन लोक की समस्त पर्यायें जानते हैं, ऐसा जिसका विश्वास है, वह धर्मी है। वह भवरहित भगवान का बहुमान कर विनय से कहता है – हे नाथ ! आपकी भक्ति से अनन्तभवों से बँधे हुए पापकर्म और विभावदशा के संस्कार समूल नष्ट होते हैं। कभी पूर्व के उदय से पाप का संयोग हो; किन्तु जब सर्वज्ञ वीतराग कथित भेदज्ञान द्वारा पूर्ण ज्ञानस्वभाव का भान हो जाये, तब पाप नष्ट हो जाते हैं। इसे आपकी भक्ति की महिमा बताना दोष नहीं है। जिसे स्वभाव का भान हो, उस जीव के यदि भक्ति का विकल्प हो तो आपकी भक्ति का, वीतरागदेव की भक्ति का ही विकल्प उठता है और उससे पाप नष्ट होते हैं। जैसे – सूर्य की किरणों से रात्रि जैसा घना अंधकार नष्ट हुए बिना नहीं रहता।

श्री पद्मनंदी आचार्य ने भी 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में ऋषभदेव भगवान की स्तुति की है। उससे ज्ञात होता है कि आचार्यश्री को जहाँ-तहाँ वीतराग प्रभु की ही महिमा दिखती है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि – हे नाथ ! जब आप मुनिदशा में थे, ध्यानस्थ खड़े थे, तब आपने शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड तप से कर्मों के बादल तोड़ डाले थे; जो कि आकाश में तितर-बितर हो गये हैं। चिदानन्द आत्मा का आदर होने से निविड़-सघन कर्म आवरणरूपी बादल नष्ट हो जाते हैं। पूर्व में जो अनादि से धाराप्रवाह रूप अखंडित थे, अटूट थे, वे आपके परमार्थपंथरूपी पवन के जोर से टूट गये। आकाश में उड़ते हुए खंड-खंड बादलों को देखकर आचार्यश्री उत्प्रेक्षा अलंकार में कहते हैं कि – हे नाथ ! पहले आठ कर्मों के बादल अखंड थे,

किन्तु वे बादल ध्यानाग्नि द्वारा टूट गये हैं। हे प्रभु ! मैं यह मानता हूँ कि कर्मों के टुकड़े ही बादल के रूप में बिखरे हुए घूम रहे हैं।

आत्मा के भान सहित अंतरंग में एकता होना निश्चय स्तवन है और आपकी भक्ति व्यवहार स्तवन है। ऐसे स्तवन या भक्ति से पाप कर्म तो नष्ट होते ही हैं। अंतरंग में भेदविज्ञान द्वारा सर्वप्रकार के रागादि को हेय मानकर जब से आत्मा जागृत हुआ, तब से स्वाश्रय की अभेद भक्ति तो है ही, साथ ही व्यवहारभक्ति के भाव से कर्म विकार नष्ट हो जाते हैं। जैसे – सूर्य से अन्धकार नष्ट होता है। यहाँ यह बताया है कि मैं नित्य चिदानन्दघन आत्मा हूँ। जहाँ उस आत्मा का सत्कार किया कि कर्म क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। मुनिराज के भक्ति का शुभराग हुआ है, जिसके फल में वे स्वर्ग जावेंगे, किन्तु इस पक्ष को गौण कर वीतरागदृष्टि के जोर में यहाँ यह कहा गया है कि भक्ति से हमारे कर्म नष्ट होते हैं।

जब अभेद भक्ति अर्थात् अखंड ज्ञानस्वभाव की पुष्टिरूपी कीर्तन-स्तवन हो, उस समय तो व्यवहार भक्ति का विकल्प नहीं हो और राग का कीर्तन भी वस्तुतः श्रद्धा में नहीं आवे – ऐसी दृढ़ता होते हुए भी जबतक वीतराग न हो, तब तक राग आये बिना नहीं रहता। अनन्तभव धारण किए, किन्तु अब तो भव का अभाव करने वाला द्रव्य स्वभाव मेरी अंतरंग रुचि में जग गया है, इसलिए कर्मों का नाश होगा ही। स्वभाव और विभाव दोनों का भेदज्ञान हो गया है, इसलिये अल्पकाल में बंधन नश जायेंगे।

आचार्य श्री मानतुङ्ग पंचमकाल के मुनि थे, इसलिए देवलोक में जावेंगे। असंख्य वर्ष का एक पल्योपम और दस कोड़ा-कोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है, ऐसे सागरोपम की लंबी आयु स्वर्ग-लोक में होती है। जिन्हें राग का एक कण भी आदरणीय नहीं था और देह की क्रिया से अपने को भिन्न मानते थे तथा भेदविज्ञान द्वारा आज भी ज्ञाता-दृष्टास्वरूप ही हैं एवं जो स्वर्ग में अमृत के भोजन से तृप्त हैं। स्वर्ग के भव के बाद थोड़े ही समय में शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का नाश होगा, ऐसा भाव धर्मात्मा को आये बिना नहीं रहता।

पहले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का राग आता था, अब (दृष्टि बदल जाने के बाद) उसके स्थान में सुदेवादिक का शुभराग न आवे तो कुलटा स्त्री जैसा दुष्टभाव है। 'सत्तास्वरूप' ग्रंथ में सर्वज्ञदेव की सत्ता का निर्णय कराकर गृहीत मिथ्यात्व के त्याग की प्रेरणा दी गई है। यदि जीव पहले अज्ञान में कुदेव-कुगुरु-

कुशास्त्र के लिए मन-वचन-काया से धनादि खर्च कर क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणाम करता था। अब उसे जब सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र मिल गये हैं, तब उनके प्रति अधिक भक्तिरूप शुभराग न आये और शक्ति-अनुसार धनादि खर्च कर भक्ति-पूजा, प्रभावना आदि में प्रीतिपूर्वक रस न लेता हो तो वह कुलटा स्त्री के समान पक्का मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ आचार्य कहते हैं – अब मैं आत्मज्ञानपूर्वक अंतरंग लीनता में तथा निजपरमात्मा की सेवा-भक्ति में सावधान हुआ हूँ और जब विकल्प आता है, तब हे भगवन् ! आपको ही अपना सर्वप्रकार हितोपदेशक जानकर आपकी ही भक्ति करता हूँ। मुझे दूसरे का स्वप्न में भी आदर नहीं है, इसलिए अल्पकाल में ही मेरा कर्ममल सर्वथा दूर होनेवाला है।

शंका : क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धावाले के अल्पकाल में मोक्ष की बात कहाँ से लाये !

समाधान : भाई ! क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले जीव को अक्रमस्वरूप जो नित्य द्रव्य स्वभाव सर्वज्ञ स्वभाव है, मुख्यरूप से उसका आदर और रुचि है। जिसे इस ज्ञाता स्वभाव की रुचि व दृष्टि हुई है, उसे अल्प काल में ही मुक्ति होती है। हे नाथ ! 'आप तो तीन काल और तीन लोक के मात्र ज्ञाता हैं, किसी के कर्ता नहीं हैं।' – यह जानते हुए मुझे यह भी निर्णय है कि मैं भी तीन काल-तीन लोक का ज्ञाता हूँ तो मैं अल्पज्ञ क्यों रहूँ ? राग आता है, फिर भी करने योग्य नहीं – ऐसी दृष्टि हुई है। भक्ति के शुभराग में पाप दूर रहते हैं और पूर्ण पवित्र स्वभाव की तल्लीनता में पुण्य-पाप दोनों दूर हो जाते हैं। मैं अन्तर्मुख हुआ हूँ, इसलिए केवलज्ञान व्यक्त होने का स्वकाल मेरी पर्याय के क्रम में अल्प काल में आने वाला है।

अन्तरंग दृढ़ता की बात बाहर में न करते हुए भी स्तुति में निर्मानता से नि:संदेह श्रद्धा की झंकार आ गई है कि हे नाथ ! आपके भक्तिपूर्ण स्नेह से ही मेरे अनेक भवों के इकट्ठे हुए कर्म नष्ट होते हैं।

यह निश्चय भक्ति सहित व्यवहार भक्ति की बात है। अज्ञानी व्यवहार के आश्रय से लाभ मानता है, इसलिए उसने भगवान को समझा नहीं है; किन्तु उसने तो राग को हितरूप समझा है। ज्ञानी को तो परमार्थ के आश्रयरूप स्वभाव की भक्ति से पुण्य-पाप का नाश होता है और शुभराग से आंशिक पाप का नाश होता है।

काव्य ८

मत्त्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनु-धियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-दलेषु
मुक्ता-फलद्युतिमुपैति ननूद-बिन्दुः ॥८॥

हिन्दी काव्य

तव प्रभावतैं कहूँ विचार, होसी यह थुति जन-मन-हार।
ज्यों जल-कमल-पत्रपै परै, मुक्ताफलकी दुति विस्तरै॥८॥

अन्वयार्थ – **(नाथ !)** हे नाथ ! हे स्वामिन् ! **(इति मत्वा)** ऐसा मानकर कि 'प्राणियों के अनेक जन्मों में उपार्जित किये हुए पापकर्म आपके सम्यक् स्तवन से तत्काल संपूर्णतया नष्ट हो जाते हैं' **(तनु-धिया-अपि)** मन्दबुद्धि होने पर भी **(मया इदं तव संस्तवनम्)** मेरे द्वारा यह आपका स्तवन **(आरभ्यते)** प्रारम्भ किया जा रहा है। **(ननु)** निश्चय ही [**यह स्तवन**] **(तव प्रभावात्)** आपके प्रभाव से **(सतां चेतः हरिष्यति)** सत्पुरुषों के चित्त को आकर्षित करेगा। [**जिसप्रकार**] **(उद-बिन्दुः)** जल की बूँद **(नलिनी-दलेषु)** कमलिनी के पत्तों पर **(मुक्ता-फल-द्युतिम्)** मोती की कान्ति को **(उपैति)** प्राप्त करती है।

काव्य ८ पर प्रवचन

आचार्य की दृष्टि में तो अन्तर में विद्यमान परम-प्रभुता की अर्थात् अपने ज्ञायक स्वभाव की ही एकता और महिमा है; फिर भी वे परम विनम्रता सहित, तीर्थंकर भगवान को अपने हृदय में स्थापित करते हैं; आचार्य देव सिद्ध परमात्मा को अपने सन्मुख ही मानते हैं। वे कहते हैं – हे चैतन्य के सागर ! हे परम पवित्रात्मा ! कहाँ मेरी मन्दबुद्धि और कहाँ आपका केवलज्ञान ? यद्यपि मेरे पास मति-श्रुतज्ञान की तुच्छबुद्धि है, तथापि मैंने उसे अन्तर्मुख किया है, जो केवलज्ञान का बीज है।

व्यवहार में आपका स्तवन करता हूँ। जैसे – श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है – 'मैं द्रव्य-भाव की स्तुति करता हूँ'; वैसे ही यहाँ कहा है कि मैं आपका स्तवन शुरू करता हूँ। आपकी भक्ति के प्रभाव से प्रसन्न चित्तवालों को यह मेरा स्तोत्र अवश्य ही रुचिकर होगा, यदि उनको वीतराग स्वभाव की रुचि होगी। अरे, जिसे परमात्मा की भक्ति की अभिलाषा हुई है, उसे वीतराग स्वभाव की रुचि क्यों न होगी ? होगी ही। अहो ! आचार्य के हृदय में भक्ति का प्रेम उछला है और वे उपमा देते हैं कि जैसे – पानी की बूँद कमल के पत्ते पर मोती की तरह लगती है – यह कमल के पत्ते का प्रताप है, उसीप्रकार मेरी भक्ति पानी की बूँद के समान है, किन्तु आपके प्रति होने से मुक्ताफल जैसी कान्तिवाली होगी। यद्यपि भक्ति करने में राग होता है; तथापि यह मुक्ताफल की तरह सुशोभित होगी।

हे नाथ ! कमलपत्र पर पानी मोती की तरह सुन्दर लगता है, उसीप्रकार मुझ अल्पज्ञ द्वारा की हुई स्तुति आपके प्रताप से सज्जनों-धर्मात्माओं के चित्त में मुक्ताफल की तरह सुशोभित होगी।

श्रावक का उत्साह

धर्मी के थोड़े शुभभाव का भी महान फल है तो इसकी शुद्धता की महिमा की तो क्या बात ! जिसे अन्तर में वीतराग-भाव रुचा, उसे वीतरागता के बाह्य निमित्तों के प्रति भी कितना उत्साह हो। वीतरागी जिनमार्ग के प्रति श्रावक का उत्साह कैसा होता है और उसका क्या फल होता है, वह कहते हैं –

बिम्बादलोन्नति यवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्त्या स्तोतुं परस्य किमु कारयितुः द्वयस्य॥

"जो जीव भक्ति से बेल के पत्र जितना छोटा जिनमन्दिर बनवाता है और जो जौ के दाने जितनी जिन-आकृति (जिनप्रतिमा) स्थापित कराता है, उसके महान पुण्य का वर्णन करने के लिए इस लोक में सरस्वतीवाणी भी समर्थ नहीं; तो फिर जो जीव ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर बनवाता है और अतिशय भव्य जिनप्रतिमा स्थापित करवाता है, उसके पुण्य की तो क्या बात ! (पद्मनंदि पंचविंशतिका)

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी : श्रावकधर्मप्रकाश, पृष्ठ : १०४

काव्य ९

आस्तां तव स्तवनमस्त-समस्त-दोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

हिन्दी काव्य

तुम गुण-महिमा हत-दुख-दोष, सो तो दूर रहो सुख-पोष।
पाप-विनाशक है तुम नाम, कमल-विकासी ज्यों रवि-धाम ॥९॥

अन्वयार्थ – हे नाथ ! **(तव)** आपका **(अस्त-समस्त-दोषम्)** निर्दोष - समस्त दोषों से रहित, पवित्र **(स्तवनम्)** गुण-कीर्तन **(दूरे आस्ताम्)** तो दूर ही रहे, **(त्वत् संकथा अपि)** आपकी सद्वार्ता - चर्चा मात्र से ही **(जगतां दुरितानि हन्ति)** प्राणियों के पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि **(सहस्रकिरणः)** सूर्य **(दूरे आस्ताम्)** तो दूर रहे **(तस्य प्रभा एव)** उसकी किरणों की कान्ति ही **(पद्माकरेषु)** सरोवर में **(जलजानि)** कमलों को **(विकासभाञ्जि)** प्रफुल्लित **(कुरुते)** कर देती है।

काव्य ९ पर प्रवचन

इस काव्य में यह चित्रित किया गया है कि वीतरागी देव के गुणों का स्मरण सब दोषों का नाश करनेवाला है। श्री मानतुङ्गाचार्य कहते हैं कि हे जिनेश्वर भगवन् ! आप सम्पूर्ण दोष रहित तो हैं ही, आपका स्तवन भी दोष विनाशक है; इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। निश्चय ही, आपका यह निर्दोष स्तवन सब दोषों का नाश करनेवाला है। हे नाथ ! आपने वीतरागता का मंथन कर अनन्तशक्ति में से सर्वज्ञता और वीतरागता प्रगट की है। इसलिये आपकी वाणी में भी वीतरागता ही प्रगट होती है। अत: मैं आपकी वीतरागता की कथा को समस्त दोषों के नाश होने में कारण मानता हूँ। सुकथा अर्थात् जो वीतरागता एवं सर्वज्ञता प्रकट करने में निमित्त हो, वह सच्ची कथा है।

जो आपके इष्टोपदेश का यथार्थ भाव समझे, उसने ही आपकी कथा सुनी – ऐसा कहा जा सकता है। जो यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा इसी भव में आत्मा की मोक्षदशा प्रगट करे, उसकी तो बात ही क्या करनी; किन्तु जिसने अविकारी श्रद्धा-ज्ञान और आनन्दमय स्वभाव की मात्र बात ही सुनी है, निर्मल चैतन्यस्वभाव के आश्रय से कल्याण का मार्ग बतानेवाली वीतरागी कथा ही सुनी, वह भी अल्प काल में दोषों का नाश करनेवाला है। निमित्ताधीन दृष्टि और राग-द्वेष की प्रवृत्ति छुड़ाकर चैतन्यस्वभाव की तरफ प्रवृत्ति करानेवाली वार्ता ही सम्यक् कथा है। सर्वज्ञ-वीतराग पद पाने की बात ही सत्यकथा है। जो निमित्त से या पुण्य से लाभ बताता है, वह वीतराग कथा नहीं है। वह तो अनन्त संसार के बन्धनरूप पाप की पुष्टि करनेवाली मिथ्यात्व का कीर्तन करनेवाली विकथा है।

जो व्यक्ति परमानन्दमूर्ति चैतन्य सत्ता को भूलकर अल्पज्ञता और राग-द्वेष में लीन है, उससे कहते हैं कि तुझ में नित्य-निरन्तर पूर्णानन्द स्वभाव है। यदि उसमें दृष्टि एवं प्रवृत्ति करे तो तेरे पाप का नाश हुए बिना नहीं रहे।

अज्ञानी जीवों ने सच्ची कथा नहीं सुनी। जिसने व्यवहार-पराश्रय-निमित्त और पुण्य से लाभ माना है; उसने वीतराग की कथा नहीं सुनी। हे प्रभु ! आपकी सत् कथा जगत् के जीवों के मिथ्यात्व का नाश करने वाली है। जैसे – हजारों किरणों से युक्त सूर्य क्षेत्र की अपेक्षा से दूर है, वैसे ही भाव और स्वकाल अपेक्षा से केवलज्ञान दूर है; तथापि जैसे – प्रात: होते ही (सूर्य प्रकाश में) हाथ की रेखायें दिखती हैं, वैसे ही हे नाथ ! तात्त्विक अन्तर्दृष्टि के अवलोकनपूर्वक आपके स्तवन और पूर्णानन्द की रमणता की तो बात ही अद्भुत और निराली है; किन्तु तेरी कथा अर्थात् वीतराग स्वभाव की वार्ता भी जिसे रुचे, उसके मिथ्यात्व का नाश होता है और जो अनादिकाल से प्रगट नहीं हुआ – ऐसा केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रगट होता है। सूर्य का प्रकाश प्रगट होते ही कमल के फूल खिलते हैं। जिसप्रकार विकसित होने की योग्यता वाले कमल के फूल सूर्योदय के उषाकाल में स्वयं विकसित होते हैं। उसी प्रकार आपकी वार्ता सुनने से भव्यजीव विकसित होते हैं। आपकी वीतराग कथा सुनने से हमारा रोम-रोम

पुलकित हो जाता है और अपूर्व प्रसन्नता द्वारा असंख्य निजप्रदेशों में आनन्द के नये पुष्पांकुर प्रस्फुटित होते हैं।

धर्मी जीव अनन्त दिव्य शक्तिमान वीतराग प्रभु के निर्दोष स्तवन को आत्म-विकास के लिए सद्निमित्त मानते हैं। हे प्रभु ! तेरी कथा में पराश्रय-व्यवहार-राग का आदर नहीं है, किन्तु अकेले वीतराग स्वभाव का ही आदर है। पर की ओर की प्रवृत्ति चैतन्य की जागृति को रोकनेवाली है; राग जागृतदशा नहीं है। स्वसन्मुख होते ही ज्ञान की दशा जागृत हो जाती है। हे प्रभु ! निर्दोष स्तवन में अनन्त शक्ति है। जो सत्पुरुष अन्तरंग में एकाग्र होकर पवित्रता में रमता है, उसकी तो क्या बात ? किन्तु जो आपकी पवित्र कथारूप सत्शास्त्रों का स्वाध्याय करे, उसके भी भवताप का नाश होता है; क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग कथित शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता ही है। पंचास्तिकाय शास्त्र में शास्त्रतात्पर्य का अर्थ बतलाया है कि चारों अनुयोगों का सार वीतरागता है।

जो राग और निमित्त से लाभ मानता है, उसे तो शास्त्र पढ़ना ही नहीं आता। सब जगह द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता और सर्वज्ञ स्वभाव का ही आदर करना चाहिए। जो सर्वज्ञ भगवान ने किया अर्थात् उन्होंने वीतरागदृष्टि एवं ज्ञानपूर्वक राग को रोका है। बस, वही मेरे करने योग्य है; प्रथम ही से ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए।

प्रथम, व्यवहार या राग करने को कहा जावे तो फिर कोई राग को दूर क्यों करेगा ? भाई ! शुभराग भी किंचित् आदर करने योग्य नहीं है। उपसर्ग काल में मुनि मौन रहते हैं, उपदेश नहीं देते हैं। अत: श्री मानतुङ्ग आचार्य के अन्दर भक्तिरूप स्तवन की भावना जगी एवं पुण्य के उदय से ४८ ताले टूटे। राजा को विश्वास नहीं हुआ, उसने उनको पुन: जेल में डाल दिया, मजबूत पहरा लगाया; किन्तु फिर भी ताले टूट गये। तब राजा ने तीसरी बार कड़े पहरे के साथ विरोधियों को भी वहाँ रखा, फिर भी ताले टूट गये। जिसे ज्ञानस्वभाव मुक्तरूप से दृष्टि में आया, उसे कोई भी नहीं रोक सकता।

हमारे स्वभाव की योग्यता से स्वभाव विकसित हो जाता है और पाप का

नाश होता है; उसमें आपकी ही भक्ति निमित्त है। निर्मल बुद्धिधारक चतुर इन्द्र भी आपकी भक्ति में सराबोर रहता है। इन्द्र भी, जो एक भवावतारी है, मनुष्य होकर अल्पकाल में ही मुक्तिदशा प्राप्त करेगा , वह भी अपनी लघुता प्रगट करता हुआ नम्रतापूर्वक प्रभु के चरणों में आकर उत्कृष्ट भक्ति करता है।

जो वीतरागी हो गये हैं, उन्हें किसी के प्रति भक्ति का भाव नहीं होता और मिथ्यादृष्टि को भी यथार्थ भक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने के बाद ही भगवान की पूजा और भक्ति यथार्थ होती है। स्वर्ग का स्वामी इन्द्र भी जिनेन्द्र देव की स्तुति, भक्ति और पूजा करता है। वह १००८ नाम लेकर भगवान की उत्तम प्रकार से स्तुति करता है। अतीन्द्रिय ज्ञानमय अनन्तगुणसम्पन्न पूर्ण चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा का पूर्ण वर्णन इन नामों से (विशेषणों से) भी नहीं होता। निज चैतन्य स्वरूप में स्थिर होने से ही यथार्थ स्तुति होती है। उसका साधन अन्तरंग में है। निज कारण-परमात्मा का आश्रय अर्थात् भूतार्थ ज्ञायक-स्वभाव का अभेद आश्रय ही एकमात्र मुक्ति का साधन है। यदि यह है तो अन्य को निमित्त मात्र कहा जाता है। ऐसा निर्णय जिन्होंने प्रारम्भ में ही कर लिया है, उन ज्ञानियों के ही यथार्थ भक्ति होती है।

वह स्तुति कैसी है ? महाचतुर देवांगनाओं का चंचल चित्त भी जिसे सुनकर स्तंभित हो जाता है। बारह अंगरूप शास्त्र के ज्ञाताओं के द्वारा की गई वह स्तुति तीन लोक के जीवों के चित्त का क्लेश दूर करती है और उन्हें प्रसन्नता देती है। इन्द्र भक्तिपूर्वक वीणा बजाता है; तब भक्ति-रस में मग्न जिसकी श्रद्धा में एक वीतरागता ही उपादेय है, उन सबका चित्त प्रसन्नता द्वारा स्तंभित हो जाता है। धर्मात्मा जहाँ-तहाँ वीतराग भगवान की महिमा ही महिमा देखता है। यद्यपि श्री पद्मनन्दि आचार्य नग्न दिगंबर सन्त थे, तथापि भक्ति में चित्त उमड़ पड़ा है।

चन्द्रमा को देखकर कोई कहता है कि उसमें हरिण का चिह्न दिख रहा है, कोई कहता है कि कलंक है; परन्तु हे नाथ ! यह चन्द्रमा पर कलंक का चिह्न नहीं है, अपितु स्वर्ग के देव परम भक्ति से आपके गुण गाते हैं, उसे संगीतमय विरुदावली को सुनने के लिए ही मानो यहाँ से हरिण गया है, वही वहाँ दिखाई

पड़ रहा है। इसप्रकार कवि ने वहाँ भी आपकी पवित्र भक्ति ही देखी है। हे नाथ ! इन्द्र द्वारा की गई भक्ति को कौन पसन्द नहीं करेगा ? अर्थात् सब ही करते हैं।

यदि अन्तरंग में निश्चयभक्ति का अंश प्रगट हुआ हो तो शुभराग व्यवहारभक्ति कहलाती है। आत्मा सदा निर्विकार ज्ञानानन्दमय है, उसका सत्कार कर उसमें एकाग्र होना ही निश्चयभक्ति है। ज्ञानी को इस निश्चयभक्ति सहित व्यवहारभक्ति होती हैं। 'सर्वज्ञ तीन काल, तीन लोक का स्वरूप जानते हैं, मैं भी वैसे ही ज्ञानस्वभाव वाला हूँ; स्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निश्चय करना निश्चयभक्ति है।' तदनंतर धर्मात्मा को शुभरागरूप भक्ति हो, उसे व्यवहारभक्ति कही है।

हे भगवन् ! देव आपके भक्त हैं। उन्होंने आपके चरण-कमलों की इसप्रकार आराधना की है कि उनके मुकुट के मणियों की शोभा आपके चरण-कमलों पर ही निर्भर करती है। आत्मा का स्वभाव जैसा है, वैसा जानने से अज्ञान का नाश होता है। उस समय जो शुभराग होता है, वह अशुभ का नाशक है।

चौरासी लाख योनियों में भटकने वाले जीव को आपका उपदेश ही तरने में आधारभूत एवं हितरूप है, इसप्रकार आपका उपदेश सहायक है। हे नाथ ! श्रुतज्ञान में पूर्ण निपुण श्रुतकेवली भी आपकी ही भक्ति करते हैं, फिर मैं करूँ तो क्या आश्चर्य है ? बारह-अंग-शास्त्र के ज्ञाता क्षायिक सम्यग्दृष्टि इन्द्र को शुभराग होता है, इसलिए वह आपकी भक्ति करता है।

ज्ञानानन्द स्वभाव के भान में वीतराग स्वरूप की भक्ति का उल्लास हुआ, उससे अन्य समस्त महान सम्यग्दृष्टि आपकी भक्ति में सावधान हैं – ऐसा मैं देखता हूँ। वे अन्तरंग में शुद्धस्वभाव के प्रति तन्मय होते हैं।

श्रुतकेवली साधु भी अति आदर भाव के साथ आपकी स्तुति करके दिव्य-भक्ति का प्रवाह बहाते हैं। जिनेन्द्र भगवान देवों के द्वारा पूजित तथा पापसमूह के नाशक हैं, वे भव्यजीवों के हेतु हितकारी उपदेश करते हैं। अपने आत्मा से ही उत्पन्न होनेवाले सुख के उपाय - मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं,

इसलिए मैं आपकी भक्ति करता हूँ, शत-शत बार नमस्कार कर प्रथम जिनेश्वर देव श्री आदिनाथ भगवान की स्तुति करता हूँ।

इन्द्र १००८ नामों के द्वारा आपकी स्तुति करता है, उनमें नाम तो क्रमवर्ती हैं। आपके केवलज्ञान की पर्याय काल-अपेक्षा एक के बाद एक क्रमश: होती है, किन्तु भाव अपेक्षा आपका ज्ञान तो अक्रम (युगपत्) सबको एक समय में जानता है। आपने लोकालोक को अक्रम रूप से जाना, किन्तु पदार्थों की अवस्था तो क्रमश: होती है। पर्यायें एक के बाद एक होती हैं।

लोग कहते हैं कि क्रमबद्धपर्याय की नवीन बात कहाँ से लाए ? भाई ! यह नवीन नहीं है – सर्वज्ञस्वभाव के निर्णय के साथ यह क्रमबद्धपर्याय का निर्णय आता ही है। उसमें ही कर्त्तापने की आकुलता मिटकर स्वसन्मुखता का, ज्ञातापने का सच्चा समाधान करनेवाला सत्य पुरुषार्थ भी आता है; 'क्रमबद्ध' शब्द सोनगढ़ का नहीं है। इस स्तोत्र के ३९ नम्बर के श्लोक में क्रमबद्ध की बात आयेगी। वहाँ 'क्रम' शब्द का अर्थ 'पग' है। 'पंचाध्यायी' ग्रंथ में 'क्रमबद्धपर्याय' के लिए (पर्यायें क्रमभावी हैं, ऐसा कहने के लिए) क्रम में पग का दृष्टान्त है। जैसे पैर एक के बाद एक रखा जाता है, वैसे ही आपका केवलज्ञान क्रम में वर्तता है; और लोकालोक की अवस्था क्रमरूप है, उसको आप एक साथ (अक्रम-युगपत्) जानते हैं। महाकवि बनारसीदासजी कृत 'जिनसहस्रनाम' स्तोत्र में भगवान का एक नाम क्रमवर्ती है। स्व-पर की पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। जिसने ऐसा निर्णय कर लिया, उसे शुभराग के काल में सर्वज्ञ भगवान की भक्ति का वेग आता है। अत: मैं भी आपकी भक्ति करता हूँ।

जिसप्रकार आपकी स्तुति करनेवालों को सिंह नहीं मार सकता, उसीप्रकार विकारी परिणाम स्वभाव की एकता को नहीं तोड़ सकते।

---

१. गुणी गुप्त गुणवाहक बली, जगत दिवाकर कोतूहली।
क्रमवर्ती करुणामय क्षमी, दशावतारी दीरध दमी॥२॥

काव्य १०

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण भूत-नाथ
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

हिन्दी काव्य

नहिं अचम्भ जो होहिं तुरन्त, तुम-से तुम गुण वरणत संत।
जो अधीन को आप-समान, करै न सो निंदित धनवान॥१०॥

अन्वयार्थ – (भुवन-भूषण !) हे विश्व के भूषण स्वरूप परमात्मन् ! हे त्रैलोक्य तिलक ! **हे(भूत-नाथ !)** हे जगन्नाथ ! **(भूतैः गुणैः)** विद्यमान विपुल एवं वास्तविक गुणों के द्वारा **(भवन्तम्)** आपको **(अभिष्टुवन्तः)** भजनेवाले भव्य पुरुष **(भुवि)** पृथ्वी पर **(भवतः)** आपके **(तुल्याः)** सदृश या समान **(भवन्ति)** हो जाते हैं **(इति अति अद्भुतं न)** यह बहुत आश्चर्यजनक नहीं है। **(वा)** अथवा **(ननु)** निश्चय से **(तेन)** उस स्वामी से **(किम्)** क्या **[प्रयोजनं अस्ति]** लाभ है ? **(यः)** जो स्वामी **(इह)** इस लोक में **(आश्रितम्)** अपने आधीन सेवक को **(भूत्या)** विभूति से, धन-सम्पत्ति-ऐश्वर्य से **(आत्मसमम्)** अपने समान **(न)** नहीं **(करोति)** करता है।

काव्य १० पर प्रवचन

श्री मानतुङ्ग आचार्य कहते हैं कि हे भुवन-भूषण ! आपके कारण ही जगत की शोभा है। आप केवलज्ञानी परमात्मा हैं। आपके ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए हैं। जगत के प्राणी जो कुछ शान्ति का अनुभव करते हैं, वह सब आपके कारण ही है। आपकी भक्ति से ही पुण्य बँधता है, पुण्य से शोभास्पद अनुकूल संयोग मिलते हैं, इसलिए वह सब शोभा आप ही की है। हे नाथ ! जो कुछ पुण्य या पवित्रता जगत में है, वह सब आपकी भक्ति का फल है; पूर्णज्ञानी के बिना यथार्थ

वस्तुस्वरूप जाना नहीं जा सकता। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि 'यह लोक तीन प्रकार के तापमान से तप्तायमान हो रहा है, उसमें जो थोड़ी सी शान्ति है तो वह सत्पुरुष की यानि परमात्मा की भक्ति का फल है; वास्तविक ज्ञाता सत्पुरुष के उपदेश बिना कुछ नहीं समझा जा सकता।

हे नाथ !आप तो सम्पूर्ण जगत के अलंकार स्वरूप हो। छह द्रव्यस्वरूप विश्व को न कोई बनाता है, न कोई किसी को कुछ देता है; किन्तु विनय-भाव से एवं उपचार से इसप्रकार स्तुति की जाती है कि – हे नाथ ! जो कुछ मिला है, वह आपके लक्ष्य से मिला है। नाथ का अर्थ है – योगक्षेम करनेवाले, अर्थात् जो प्राप्त का संरक्षण करे एवं अप्राप्त की प्राप्ति करावे, उसे नाथ कहते हैं। इसप्रकार भक्त आपके गुणगान में अनेक अलंकारों का प्रयोग करता है। हे नाथ ! आप तीन लोक के प्राणियों की पीड़ा हरण करने वाले हो एवं संसार के भय से रक्षा करने वाले हो।

हे नाथ ! आपके लक्ष्य से मुझे आत्मा का भान हुआ है, इसलिए मानो आपने ही मुझे सब कुछ दिया है। शुद्धता वृद्धिगत होने में भी आप ही कारण हैं, इसलिए मैं आपको ही अपना नाथ मानता हूँ। आपने सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुण (निर्मल पर्यायरूप) प्रगट किये हैं, इसलिए आप सज्जनों द्वारा वंदनीय हैं। हे नाथ ! आपकी स्तुति करनेवाले ज्ञानी पुरुष आपकी ही तरह इस जगत में तीर्थंकर होंगे, जैसा कि 'तुल्याः भवन्ति' कहकर आचार्यदेव द्वारा सिद्ध किया गया है। आपके गुणों को पहचाननेवाला जो कोई आपकी स्तुति करता है, वह इसी अढ़ाईद्वीप में आप जैसा हो जाता है। किसी कवि ने उचित ही कहा है –

पारसमणि अरु सन्त में, बड़ो आंतरो जान।
एक लोह कंचन करे, दूजो आप समान॥

लोहा पारसमणि के स्पर्श से सोना बन जाता है, किन्तु पारसमणि नहीं बनता। पारसमणि और परमात्मा में यही बड़ा अन्तर है। आप (परमात्मा) भव्यों को स्वयं भगवान बना देते हैं। सम्यग्दृष्टि द्वारा कथित आपकी स्तुति में जो कुछ रागांश है, उसके फलस्वरूप वह तीर्थंकरतुल्य पुण्य और पवित्रता प्राप्त करके

आप समान हो जायेगा। हे नाथ ! आपके व्यक्त गुणों की सच्ची स्तुति करनेवाला श्रद्धा-अपेक्षा तो तुरंत भगवान समान हो जाता है और चारित्र अपेक्षा थोड़े समय बाद आप जैसा हो जायेगा। अत: यह महान पद आपकी कृपा का फल है – ऐसा कहहने में आता है।

हे नाथ ! आपने सर्वज्ञ पद प्राप्त किया, किंतु अभी मेरे केवलज्ञान प्राप्ति का काल नहीं है; फिर भी आपका निर्देश है कि जिसके स्वभाव में एकाग्रता हो, उसे केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता। हे नाथ ! आपकी आराधना कर आप जैसा बनना है।

भगवान आदिनाथ ने आत्मा के ज्ञानानन्द का भान एवं शुद्धता की पूर्णता कर धर्मतीर्थ का आद्य प्रवर्तन किया। इस परमपद के रहस्य को जानने वाला मैं भी परमात्मा होने वाला हूँ। आत्म-द्रव्य पूर्ण ज्ञानानन्द शक्ति का पिण्ड है। मैं उसके निरन्तर चिन्तन में वृद्धि कर आप जैसा तीर्थंकर होऊँगा एवं तत्पश्चात् मोक्ष जाऊँगा। आपकी सच्ची स्तुति करने वाला इस पृथ्वी पर आप जैसा बने – इसमें कोई बड़ा आश्चर्य नहीं है। आत्मा के परमपद के समक्ष तीर्थंकर पद आश्चर्यकारी पद नहीं है – यह दृढ़ता की बात है; इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। सिद्ध भगवान समान शक्ति का भरोसा करने वाला अवश्य ही परमात्म पद प्राप्त करेगा।

आप से क्या माँगना ? जिस तरह आम का पेड़ फल के भार से झुक जाता है, तब छोटा बच्चा भी आम तोड़ लेता है; उसीप्रकार हे नाथ ! आपके अनन्त चतुष्टय की सत्ता की श्रद्धा मेरे हृदय में हुई, तब मुझे आप जैसा होना ही है, इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। अभेद साध्य-साधन का अनुभव होने पर मेरे परमात्मा समान होने में कोई अतिरेक नहीं है और अव्याप्ति दूषण भी नहीं है।

अपने परमात्म-स्वभाव की प्रतीति, उसी में दृढ़तापूर्वक अन्तरंग में – भाव-श्रुतज्ञान में यथार्थ भाव का भासन हो और साथ में प्रशस्त राग हो तो तत्फलस्वरूप तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति बँधती है – इस सबकी अपेक्षा आप जैसा होने की बात कही गई है।

एक गरीब आदमी सेठ के पास जाकर एक रुपया माँगता है, उस रुपये से व्यापार करते-करते वह करोड़पति हो जाता है। संसार में पुण्य अधिक होने पर पूर्ववर्ती सेठ की पूँजी से भी अधिक पूँजी होना संभव है, तब भी वह विनयवान नया सेठ उस सेठ को अपने बँगले पर बुलाकर कहता है कि – हे अन्नदाता ! यह महल आपका ही है। आपके पास से मैंने एक रुपया लिया था, वही बढ़ते-बढ़ते करोड़ों के रूप में फलित हुआ है। यह सब आप ही के प्रताप से हुआ, इसीप्रकार नित्य ध्रुव स्वभाव के आश्रय से व्यवहार में परमात्मा के आश्रय से केवलज्ञानरूप लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। ज्ञानी इसी बात को जानता है, अत: उसे भगवान के प्रति भक्ति उमड़ती है और कहता है कि हे नाथ ! आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। अपने सेवक को आप अपने जैसा न करो तो अन्य कौन करेगा ? पुण्य से नौकर भी सेठ हो जाता है; उसीप्रकार आपका भक्त अन्तरंग की पवित्रता से आप जैसा हो जावे, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित शास्त्रों में निश्चयनय की मुख्यता है। कोई कहते हैं कि दोनों नय समकक्षी हैं एवं समान कार्यकारी हैं, किन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। अध्यात्मशास्त्र में निश्चय मुख्य है एवं व्यवहार गौण है; किन्तु जहाँ भक्ति का वर्णन हो, वहाँ विनयभाव बताना है, अत: व्यवहार की अपेक्षा बात की जाती है। अत: आप यहाँ कहते हैं कि – हे प्रभु ! आपके प्रताप से आप जैसा होने में सन्देह नहीं है।

जिनेन्द्र पूजन का अचिन्त्य प्रभाव

"गृहाचार में सर्वोत्तम शरण, परिणामों की विशुद्धता करनेवाला कार्य नित्य पूजन करना ही है। .... बहुरि पूजन करना, करावना, करते को भला जानना, सो समस्त पूजन ही है। .... मन से, वचन से, काय से, धन से, विद्या से, कला से – जैसे भी अरहंत के गुणों में अनुराग बढ़े, वैसा करना; क्योंकि जिनमन्दिर की वैयावृत्ति सम्यक्त्व की प्राप्ति करै है। तथा मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रद्धान का अभाव करै; स्वाध्याय, संयम, तप, व्रत, शीलादि गुण जिनमन्दिर का सेवन तैं ही होय, नरक-तिर्यंचादि गतिनि में परिभ्रमण का अभाव होय। जिनमन्दिर समान कोऊ उपकार करनेवाला जगत में दूजा नाहीं है।" – **पंडित सदासुखदासजी**, टीका-रत्नकरंडश्रावकाचार, पृष्ठ : २२१

काव्य ११

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष - विलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकर-द्युति-दुग्ध-सिन्धोः
क्षारं जलं जल-निधेरसितुं क इच्छेत्॥११॥

हिन्दी काव्य

इकटक जन तुमको अविलोय, अवरविषैं रति करै न सोय।
को करि छीर-जलधि जल-पान, क्षार नीर पीवै मतिमान॥११॥

अन्वयार्थ – [हे प्रभु] **(अनिमेष-विलोकनीयं)** बिना पलक झुकाये निरन्तर दर्शन करने योग्य **(भवन्तं दृष्ट्वा)** आपको देखकर **(जनस्य चक्षुः)** मनुष्य के नेत्र **(अन्यत्र तोषम्)** और कहीं पर संतोष को **(न उपयाति)** प्राप्त नहीं करते **(शशिकर-द्युतिः दुग्ध-सिन्धो पयः पीत्वा)** चन्द्रमा की किरणों के समान क्षीरसागर का उज्ज्वल जल पीकर **(कः जलनिधेः क्षारं जलं असितुं इच्छेत्)** ऐसा कौन पुरुष होगा – जो समुद्र के खारे पानी को पीना चाहेगा ?

काव्य ११ पर प्रवचन

हे नाथ ! जिसने एकटक होकर यानी टकटकी लगाकर आपको एक बार भी देख लिया है, उसके नेत्र अन्यत्र संतोष प्राप्त नहीं करते। जो आपको एक बार देख लेता है, पहचान लेता है; वह फिर निरन्तर आपको ही देखना चाहता है। वह आपका सच्चा भक्त हो जाता है। आपके भक्त को यह भान है कि प्रत्येक आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, अतः उसका दर्शन करना भी सफल कहा जाता है। भक्त के अंतरंग में आराधना का अप्रतिहत भाव है, जो कभी नष्ट नहीं होता। यद्यपि उसे पुण्य एवं निमित्त की उपादेयता बिलकुल नहीं है, तथापि सद्निमित्तों का बहुमान आये बिना भी नहीं रहता। जो स्वभाव को गौण करे और व्यवहार को मुख्य करे, वह तो आपका भक्त ही नहीं है; किन्तु स्वभाव को मुख्य रखकर

भूमिकानुसार व्यवहार भी रहता ही है – इसमें किसे आपत्ति हो सकती है ? अर्थात् किसी को भी नहीं। जो ऐसा नहीं मानता, वह निश्चय-व्यवहार दोनों को नहीं जानता।

प्रभु ! जन्म के समय आपका रूप इतना सुन्दर था कि तीन ज्ञान का धारी शक्रेन्द्र भी आपको देखकर तृप्त नहीं होता था, तब आपके आत्मा की तो बात ही क्या करनी ? जिसे शुभराग का भी आदर नहीं है, मात्र चैतन्यस्वभाव का ही आदर है; ऐसे ज्ञानी पुरुषों को कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र से सन्तोष कैसे मिल सकता है ?

हे नाथ ! आपकी बाह्याभ्यन्तर सुन्दरता बहुत है। पूर्ण पवित्रता प्रकट होने का काल आने के पूर्व शुभराग आता है। उस समय के बँधे कर्मों के उदयकाल में शरीर परम औदारिक होता है। तीर्थंकर भगवान के ऐसे शरीर को देखकर इन्द्र भी तृप्त नहीं होता। हे त्रिलोक शिरोमणि ! जिसने सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्रों से आपको एकाग्रदृष्टि से देख लिया है, उसे स्वप्न में भी संसार, शरीर और भोगों में उपादेयपना नहीं होता। जब भक्त मोक्षमार्ग की निश्चय आराधना का आराधक होता है, तब सहचारी होने से व्यवहार रत्नत्रय पर निमित्तत्व का आरोप किया जाता है, किन्तु अन्य किसी पर नहीं।

हे नाथ ! आपका भक्त आपको ही एकटक देखता है। उसीप्रकार जैसे कि नाटक की रुचिवाला नाटक देखते समय मंच की ओर ही देखता है। जिसमें रस है, उसी में एकाकार वृत्ति काम करती है; उसीप्रकार जिसको वीतराग-स्वभाव में रुचि है, उसकी ऐसी ही वृत्ति होती है।

हे नाथ ! हम तो केवल आपको ही निर्निमेष देखते हैं। विकल्प उठे तो भी हमारा चित्त अन्यत्र नहीं दौड़ता, अन्य किसी रागी देव का आदर नहीं करता। हे प्रभु ! हमारा मन आपके सिवाय अन्यत्र स्थिर नहीं होता। मुझे आप में सन्तोष मिला, अतः अब मुझे राग में या अन्यत्र संतोष नहीं मिलता। चरित्र की कमजोरी से राग की वृत्ति उठती है, किन्तु मन को वहाँ संतोष नहीं मिलता। मेरे चित्त को तभी संतोष मिलता है, जब पूर्ण स्वभाव पर दृष्टि हो। प्रवचनसार के

टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि भगवन् ! आप मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं। अहो ! कितनी नि:शंक दृढ़ता है।

आचार्य श्री मानतुङ्ग का भक्त हृदय कहता है कि हे नाथ ! मैंने आपको ही अपना नेता बनाया है एवं आपको ही स्वामी के रूप में स्वीकार किया है। ऐसे मुझ सेवक को अन्यत्र संतोष नहीं होता। क्षीरसमुद्र अढ़ाई-द्वीप से बाहर है। वहाँ दूध जैसा पानी है। वह मछली, मैल आदि से रहित होता है। अढ़ाईद्वीप के बाहर कोई मनुष्य नहीं होता, इसलिए उसमें कोई स्नान नहीं करता। इन्द्र उस जल से भगवान का जन्माभिषेक करते हैं। यदि किसी को क्षीरसमुद्र का ऐसा श्रेष्ठ जल पीने को मिले तो वह उसे छोड़कर लवणसमुद्र का खारा जल क्यों पीना चाहेगा ? प्रभु ! आप उपशमरस के कन्द हैं, अत: आपके भक्तों को कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र में संतोष नहीं मिलता। दूध-पाक जैसा मिष्ठान्न जिसे मिले, वह लाल ज्वार की भूसी की रोटी क्यों खाये ? उसीप्रकार जिसने आपका बाह्य और अभ्यन्तर निर्दोष सुन्दर रूप देख लिया है, वह अन्य किसी लौकिक सुन्दरता में संतोष नहीं पा सकता।

वीतराग पूजा का फल

लोपे दुरित हरै दु:ख संकट; देवे रोग रहित शुचि देह।
पुण्य भंडार भरै जश प्रगटै; मुकति पंथ सौं करै सनेह॥
रचै सुहाग देय शोभा जग; परभव पहुँचावे सुर गेह।
दुर्गति बन्ध दलमलहि 'बनारसि' वीतराग पूजा फल ऐह॥

× × ×

देवलोक ताको घर आँगन; राजरिद्धि सेवै तसु पाय।
ताके तन सौभाग्य आदि गुन; केलि विलास करै नित आय॥
सो नर तुरत तरै भव सागर; निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्यभाव विधि सहित 'बनारसि'; जो जिनवर पूजै मनलाय॥

— **पण्डित बनारसीदासजी :** बनारसीविलास, पृष्ठ : २२

काव्य १२

यैः शान्त-राग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललाम-भूत।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति॥१२॥

हिन्दी काव्य

प्रभु तुम वीतराग गुन-लीन, जिन परमाणु देह तुम कीन।
हैं तितने ही ते परमानु, यातैं तुम-सम रूप न आनु॥१२॥

अन्वयार्थ – (त्रिभुवन एक-ललाम-भूत) हे त्रैलोक्य शिरोमणि ! **(यैः शान्त-राग-रुचिभिः परमाणुभिः)** जिन प्रशान्त रस से युक्त सुन्दर राग रहित परमाणुओं से **(त्वं निर्मापितः)** आपका परमौदारिक शरीर निर्मित हुआ है, **(ते अणवः अपि खलु तावन्तः एव)** वे परमाणु भी वस्तुतः उतने ही **(आसन्)** थे। **(यतः)** क्योंकि **(पृथिव्यां ते समानम्)** समस्त पृथ्वी तल पर आपके समान **(अपरं रूपं न हि अस्ति)** अन्य किसी का ऐसा सुन्दर रूप ही नजर नहीं आता।

काव्य १२ पर प्रवचन

तीर्थंकरदेव की पवित्र दशा की तो क्या बात करें ? उनका तो पुण्य भी उत्कृष्टतम होता है और शरीर भी परम औदारिक होता है। अतः उनके दर्शन मात्र से प्रमोद होता है। हे नाथ ! आप ही तीन लोक के पवित्र आभूषण हो। आपका आत्मा रागरहित, अविकारी, परम शान्त रस से भरपूर है। वह परम उपशम रस आपके शरीर के परमाणुओं की छाया में भी झलकता है। दर्शक उनके पास आते हैं तो उनके प्रभा मण्डलों में दर्शकों को अपने सात भव दृष्टिगोचर हो जाते हैं (पहले के तीन भव, एक वर्तमान भव एवं आगामी तीन भव) और यदि भविष्य में कम भव रह गये हों तो उतने कम दिखायी देते हैं।

वस्तुत: तो यह आत्मा के वीतराग, सर्वज्ञ स्वभाव की भक्ति है, किन्तु तीर्थंकर नामकर्म के निमित्त से उन्हें परमौदारिक शरीर मिला है। उस शरीर के अणु-अणु में भी परम शांति दिखती है। यद्यपि ज्ञानी को पुण्य के फलस्वरूप उत्कृष्ट संयोग मिलते हैं, किन्तु वे उनकी प्राप्ति की आशा नहीं करते। जिसतरह जवाहरों से जड़ित आभूषणों से स्त्रियाँ सुशोभित होती हैं; उसीतरह भगवान भी तीनलोक की शोभा बढ़ानेवाले उत्कृष्ट आभूषण हैं। भगवान के शरीर के परमाणु भी रागरहित हैं और उनका आत्मा भी राग रहित हुआ है।

जैसे समुद्र में कितनी भी वर्षा हो, तब भी अतिक्रमण नहीं होता, वह गंभीर रहता है; वैसे ही भगवान हमेशा गंभीर रहते हैं। वे केवलज्ञान होने के पूर्व जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी होते हैं, तथापि किसी के पूछे बिना बोलते नहीं हैं; किसी को पूछना भी हो तो उनकी गंभीरता देखते हुए कोई पूछने की हिम्मत नहीं करता। जब श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार को कोई हरण करके ले जाता है, तब रुक्मणी आदि मातायें विलाप करती हैं। भगवान नेमिनाथ के अत्यन्त निकट होते हुए भी प्रद्युम्न की तलाश के लिए नारद को विदेहक्षेत्र में सीमन्धर प्रभु के पास भेजा गया। नेमिनाथ भगवान समुद्रवत् गंभीर थे, वे संसार में होते हुए भी गंभीर थे तो फिर जिनके केवलज्ञान दशा प्रगट हुई हो, उनके अंतरंग में उपशमरस का क्या कहना ? यदि हमें वे शान्तरस से पूर्ण परमात्मा दिखें तो इसमें क्या आश्चर्य ?

भरतक्षेत्र में दस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल में २४ तीर्थंकर उत्कृष्ट पुरुष होते हैं। उनके जन्म के समय ज्योतिष के उत्कृष्ट शुभग्रहों का संयोग होता है। उनके शरीर में जैसे पुण्य के उत्कृष्ट, शान्त, सुन्दर परमाणु एकत्रित होते हैं; वैसे अन्य किसी को नहीं होते। ऐसा अनुपम शरीर एवं सुन्दर रूप तीर्थंकर भगवान के होता है। संसार में जितने भी उत्कृष्ट, शान्त, उज्ज्वल एवं उत्तर परमाणु थे, वे शान्तरस हो शरीररूप होकर उनके पास आते हैं। अढ़ाईद्वीप के मनुष्यक्षेत्र में अधिक से अधिक १७० तीर्थंकर होते हैं। उनके शरीररूप परमाणुओं की उत्कृष्ट शुभदशा हुई, वह अपने उपादान के काल में ही हुई है। जगत में भगवान के शरीर के योग्य परमाणु इतने ही थे।

आपके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय प्रगट हुआ, उससे

अधिक आनन्द अन्य के नहीं होता। आपके शरीर के रजकणों में शान्तरस भासता है– ऐसा अढ़ाईद्वीप में अन्यत्र नहीं होता। आपको पवित्रता, पुण्य और पुण्य के फल का ज्ञान तो है, किन्तु उनके प्रति कुछ भी राग नहीं है। आपकी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती, क्योंकि आपके केवलज्ञानादि दशा प्रगटी, उससे अधिक निर्मलता किसी के नहीं होती है।

पुण्य की पूर्णता पूर्ण पवित्रता होने से भले हो, पर आप पुण्य छोड़कर परमात्मा हुए हो। पाप का रस एवं स्थिति मोक्षमार्ग में चलनेवाले धर्मी जीव के घटती जाती है और शुभायु के अलावा पुण्य की स्थिति भी घटती है, किन्तु पुण्य का रस बढ़ता है। पुण्य का अनुभाग शुद्ध उपयोग से घटता नहीं, किन्तु बढता है। जैसे-जैसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र आदि की वृद्धि होती है; वैसे-वैसे पुण्य का रस बढ़ता है। जिस जीव के तीर्थंकर प्रकृति न हो, उनके तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानादिक की पूर्णता होती है और तभी शरीर परमौदारिक होता है। उनके परमाणुओं में उत्कृष्ट साता और .दिव्य अनुभाग का परिपूर्ण फल आता है और वह भी चौदहवें गुणस्थान में छूट जाता है।

हे जिनेन्द्र ! जिन परमाणुओं से आपके शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु जगत में उतने ही थे। जब पुण्यवंत जीव हों, तब पत्थरों में भी हीरे-नीलम मिलते हैं। उन्हें गृहस्थावस्था में अपनी प्रजा पर कर (टैक्स) नहीं लगाना पड़ता, क्योंकि वे सातिशय पुण्य की सम्पत्ति सहित जन्म लेते हैं। इसलिए वे प्रजा के पास से कुछ नहीं लेते, बल्कि सुख-सम्पत्ति देते ही हैं। उनके पुण्य की महिमा उनकी पवित्रता के कारण मानने में आती है, क्योंकि उनके ही पुण्य की पूर्णता है। जब पूर्णता हुई, तब पुण्य पूर्णरूप होकर छूट जाता है। हे प्रभो ! आपको फिर कभी संसार में नहीं आना है, आप बलदेवों की अपेक्षा विशेष पुण्यवान हैं; इसलिए लोक में अद्वितीय हैं। आपके अनन्त चतुष्टय की बराबरी कोई अन्य नहीं कर सकता। आपके शरीर की तुलना में और किसी का शरीर नहीं टिक सकता। ऐसी स्तुति करने से बंधन के ताले स्वयं टूटते हैं और आपके भक्त आपकी स्तुति करके बन्धन-मुक्त हो जाते हैं, किन्तु धर्मात्मा ज्ञान और

पुण्य को भिन्न-भिन्न जानकर ज्ञान को ही उपादेय मानते हैं, पुण्य को नहीं।

भगवान के शरीर की कोई उपमा नहीं है। सर्वज्ञ की सत्ता को स्वीकार करनेवाला भगवान के सिवा अन्य किसी को नहीं देखता। चैतन्य ज्ञानानन्द स्वभाव में से पूर्णदशा प्रगट हुई है, ऐसे जिनेन्द्रदेव को किसी की उपमा ठीक नहीं लगती। आप बाह्य में पुण्य से और अन्तर में पवित्रता से महान लगते हैं। इस स्थिति को देखकर हम स्तंभित होते हैं। जगत के सर्वोत्कृष्ट परमाणु आपके शरीर में समाविष्ट हैं। अन्तरंग में शान्ति व्याप्त है। उसकी छाया आपकी दिव्य देह पर पड़ती है, इससे आपकी महिमा व्यक्त होती है। जैसे सरोवर के पास की हवा में शीतलता होती है, वैसे ही आपके शरीर के अवलोकन मात्र से शान्ति प्राप्त होती है।

सो देवन को देव

जगत में सो देवन को देव...।
जासु चरन परसें इन्द्रादिक, होय मुकति स्वयमेव॥१॥टेक॥
जो न क्षुधित, न तृषित, न भयाकुल, इन्द्रीविषय न वेव।
जनम न होय, जरा नहिं व्यापै, मिटी मरण की टेव॥२॥
जगत में सो देवन को देव...।
जाके नहिं विषाद, नहिं विस्मय, नहिं आठों अहमेव।
राग-विरोध-मोह नहिं जाके, नहिं निद्रा परसेव॥३॥
जगत में सो देवन को देव...।
नहिं तन रोग, न श्रम, नहिं चिंता, दोष अठारह भेव।
मिटे सहज जाके ता प्रभु की, करत 'बनारसी' सेव॥४॥
जगत में सो देवन को देव...।

– **पण्डित बनारसीदास :** बनारसीविलास, पृष्ठ : २३२

काव्य १३

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोरग-नेत्र-हारि।
निःशेष - निर्जित - जगत्त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलङ्क-मलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डु पलाश-कल्पम्।।१३।।

हिन्दी काव्य

कहँ तुम मुख अनुपम अविकार, सुर-नर-नाग-नयन-मनहार।
कहाँ चन्द्र-मण्डल सकलंक, दिनमें ढाक-पत्र सम रंक।।१३।।

अन्वयार्थ – (सुर-नर-उरग-नेत्र-हारि) देव, मनुष्य और भवनवासी नागकुमार जाति के देवेन्द्र (धरणेन्द्र) आदि के नेत्रों को हरण करनेवाला **(निःशेष-निर्जित-जगत् त्रितय-उपमानम्)** सम्पूर्ण रूप से तीनों लोकों के उपमानों को जीतनेवाला अर्थात् उपमा रहित **(ते वक्त्रं क्व)** तुम्हारा मुख-मण्डल कहाँ और **(कलङ्क-मलिनं निशाकरस्य बिम्बं क्व)** कलङ्क से मलिन चन्द्रमा का बिम्ब कहाँ ? **(यत् वासरे)** जो दिन में **(पाण्डु-पलाश-कल्पं भवति)** जीण-शीर्ण हुए टेसू के पत्र के समान फीका और पीला पड़ जाता है।

काव्य १३ पर प्रवचन

हे भगवन् ! सर्वज्ञपरमात्मा ! देवाधिदेव ! आपका मुख मण्डल देवेन्द्रों-विद्याधरों के मुख से भी अधिक सुन्दर है। आपके मुख एवं शरीर की अपूर्व सुन्दरता की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। ऐसा नियम है कि तीर्थंकरों के पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट हो जाता है।

हे नाथ ! आपका मुख-मण्डल इतना आकर्षक है कि देव, मनुष्य और धरणेन्द्र के नेत्र भी आपको टकटकी लगाकर निरन्तर देखते रहते हैं। हे भगवन् ! आपके शरीर के परमाणु परमशांत हैं। लोग बाह्य पदार्थों का वर्णन इसप्रकार

करते हैं कि हमारा मकान अच्छा है, हमारी स्त्री सुन्दर है; किन्तु सर्वज्ञ भगवान की तुलना में वे कुछ भी नहीं हैं।

हे नाथ ! आपने सम्पूर्ण रूप से तीन लोक की समस्त उपमाओं को जीत लिया है। आपके मुख ने भी जगत की शोभा को जीत लिया है। अज्ञानी शरीर के अवयवों की इसप्रकार उपमा देते हैं कि नाक गरुड़ जैसी, आँखें हिरण जैसीं, दाँत अनारदाने जैसे हैं; परंतु प्रभु ! तुम्हारे शरीर को देखने से ये सब उपमायें पराजित हो जाती हैं। भगवान का सातिशय पुण्य भिन्न जाति का है। किसी भी पदार्थ से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। सुख के लिए कमल की उपमा भी उचित प्रतीत नहीं होती। सूर्य दिन में एवं चन्द्रमा रात्रि में प्रकाशित होता है, जबकि आपका मुख दिन-रात प्रकाशमान रहता है। जब वासुदेव के शरीर का बल हजार सिंह के बराबर होता है तो फिर तीर्थंकर के बल की तो क्या बात करनी ? वे तो अतुल्य बल के धनी होते हैं और चौबीसों घण्टे सौन्दर्यवान रहते हैं।

आपके पूर्ण पवित्रता प्रगट हुई है, इसलिए आपका शरीर भी उतना ही उत्तम होता है। वस्तुतः आपके मुख को चन्द्रमा की उपमा देने वाला भूल करता है। चन्द्रमा कलङ्क सहित दिखता है, जबकि भगवन् ! आप चरम शरीरी होने के कारण निष्कलंक हैं। आपकी आत्मा एवं काया में भी किसी प्रकार का कलङ्क नहीं है।

को निकसै निज भौनसौं

हम बैठे अपनी मौनसौं,
दिन दश के महिमान जगत जन बोलि बिगारैं कौनसौं ॥१॥टेक॥
गये विलाय भरम के बादर, परमारथ-पथ पौनसौं।
अब अंतरगति भई हमारी, परचैं राधा-रौनसौं ॥२॥
प्रगटी सुधा-पान की महिमा, मन नहिं लागै वौनसौं।
छिन न सुहाय और रस फीके, रचि साहिब के लौनसौं ॥३॥
रहे अघाय पाय सुखसंपति, को निकसै निज भौनसौं।
सहजभाव सद्‌गुरु की संगति, सुरझै आवागौनसौं ॥४॥

— **पण्डित बनारसीदासजी :** बनारसी विलास, पृष्ठ २३२

काव्य १४

संपूर्ण-मण्डल-शशाङ्क-कला-कलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर - नाथमेकं
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।१४।।

हिन्दी काव्य

पूरन-चन्द्र-ज्योति छविवंत, तुम गुन तीन जगत लंघंत।
एक नाथ त्रिभुवन आधार, तिन विचरत को करै निवार।।१४।।

अन्वयार्थ – (जगदीश्वर !) हे त्रिलोकी नाथ ! **(सम्पूर्ण-मण्डल-शशाङ्क-कला-कलाप-शुभ्रा)** पूर्णमासी के चन्द्रमण्डल की कलाओं कें सदृश समुज्ज्वल **(तव गुणाः)** आपके गुण **(त्रिभुवनं लङ्घयन्ति)** तीनों लोकों को उल्लंघन करते हैं; क्योंकि **(ये एकं नाथं संश्रिताः)** जिन्होंने एक, अद्वितीय, त्रिलोकीनाथ का आश्रय लिया है, **(तान्)** उन्हें **(यथेष्टं संचरतः कः निवारयति)** स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचरण करने से कौन रोक सकता है ! कोई भी नहीं। इसी कारण मानो आपके अनन्त गुण त्रिभुवन में सर्वत्र फैल रहे हैं, व्याप्त हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि त्रिलोकीनाथ जिनेश्वरदेव का गुणानुवाद सर्वत्र सदैव होता रहता है तथा उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप सर्वत्र सदैव जयवंत वर्त रहा है।

काव्य १४ पर प्रवचन

हे नाथ ! आप पूर्ण चन्द्रमा की कलाओं के समान स्वच्छ हो, आपकी पर्याय भी निर्मल है। आपकी कीर्ति समस्त लोक में फल रही है। आपके अंतर में समस्त गुण विकसित हो चुके हैं। आपके जन्म-कल्याणक के समय तीनो लोकों के समस्त जीवों को दो घड़ी के लिए शांति मिलती है। सातवें नरकवासी

जीवों को अत्यन्त असाता का योग होता है, तथापि आपके जन्म एवं निर्वाण जाने के समय उन्हें भी साता होती है। आपके केवलज्ञान होने पर, इन्द्र का भी आसन कम्पायमान होता है। तब वह अवधिज्ञान से जानता है कि अहो ! भगवान तीर्थंकर के केवलज्ञान हुआ है। उस समय चौदह ब्रह्माण्ड में हर्ष की लहर छाती है। हे नाथ ! आपकी पवित्रता की क्या बात ? आपके इतना पुण्य है कि वह सर्वलोक में प्रगट होता है। आप जब माँ के गर्भ में आते हैं, तब देव गर्भ-कल्याणक का उत्सव मनाते हैं और आपके जन्म के समय देवलोक में चार प्रकार बाजे बज उठते हैं। हे प्रभु ! आपके गुणों की कीर्ति जगत में व्याप्त है।

हे नाथ ! आपके पाँच कल्याणक जगत में मंगलरूप हैं। आपके अंतरंग गुण जगत में व्याप्त हैं। आपके कल्याणक के समय जगत के मुख्य और प्रसिद्ध जीव ही क्या, अपितु सभी जीव जानते हैं कि जगत उद्धारक तीर्थंकर का जन्म हुआ है। उस समय कल्पवासी देवों के यहाँ अनहद घंटा, ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद, भवनवासी देवों के यहाँ पटह नामक बाजे एवं व्यंतर देवों के तुर्य नामक बाजे स्वत: बज उठते हैं। तब सभी देव परस्पर पूछते हैं कि यह क्या हुआ ? तब इन्द्र अपने अवधिज्ञान का उपयोग करके जानता है कि अहो ! तीर्थंकर भगवान का अमुक कल्याणक हुआ है। इन्द्र उसी समय अपने आसन से उतर कर कल्याणक की दिशा में सात कदम आगे बढ़कर नमस्कार करता है। संसारी-जीव कहते हैं कि मेरी इज्जत करो, मेरे मरने के बाद सम्मान में भोज करो, किन्तु यहाँ यह बात नहीं है। भगवान के केवलज्ञान या कोई कल्याणक होने पर समस्त जीवों के स्वत: महोत्सव होता है। भगवान ! वस्तुत: आपकी कीर्ति समस्त संसार में व्याप्त है। उसकी तुलना में लौकिक राजा की कीर्ति थोथी है। हमें ऐसा नहीं लगता कि कोई भव्य जीव ऐसा भी होगा जिसने आपके गुणगान न किये हों। आपकी कीर्ति तीन लोक में न हो – ऐसा नहीं बनता; वह स्वत: होती है, उसके लिए किसी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। लौकिक में सम्मान व शादी आदि के लिए जलसे (उत्सव) करने पड़ते हैं, किन्तु आपके लिए जलसे नहीं करने पड़ते। सबको स्वाभाविक रूप से उत्साह होता है। आपके भक्तों के गुणों का विकास अपनी योग्यता से स्वत: होता

है और पुण्य बढ़ता है। जगत में उनकी कीर्ति भले बढ़े, किन्तु वे ईश्वर की कृपा से तर जावें – ऐसा नहीं है।

तीन ज्ञान के धारी, एक भवावतारी, तेतीस सागर की आयुवाले सर्वार्थसिद्धि के देव भी आपका गुणगान करते हैं। जो मनुष्य होकर अल्पकाल में स्वयं भी मोक्ष जानेवाले हैं। आपके केवलज्ञान कल्याणक के समय सातवें नरक में भी शांति होती है, तब योग्य जीव को ख्याल होता है कि इस समय भगवान के केवलज्ञान हुआ है। इसलिए तू भी भगवान का भक्त बन और संसार, शरीर तथा भोगों की भावना छोड़ दे। वह भगवान का सच्चा भक्त है, जिसके अंतर में पूर्ण साध्य-स्वरूप परमात्म-शक्ति के ध्येय का अप्रतिहत भाव जागृत हुआ है।

हे भगवन् ! जिसतरह राज्यों में परस्पर युद्ध के समय संधि करानेवाले साहसी, चतुर, होशियार दूत के आवागमन को कोई रोक नहीं सकता। जब भरत का दूत बाहुबली की सभा में जाता है, तब कोई उसे रोक नहीं पाता। वह अपने आपको भरत का दूत बताता हुआ खूब नम्रतापूर्वक और दृढ़ता से बाहुबली से निवेदन करता है कि "भरत चक्रवर्ती आपका भाई है, वह आपको खूब चाहता है; किन्तु वह छः खण्ड का स्वामी है, अतः आपको उसे नमस्कार करना चाहिए।" यद्यपि यह सुनते ही बाहुबली उग्र हो जाते हैं और उनकी आँखें लाल हो जाती हैं, तथापि चतुर दूत इस प्रतिक्रिया को देखकर भी आगे कहता है कि "भरत चक्रवर्ती की आज्ञा है कि आप उन्हें नमस्कार करें।" बाहुबली इसे अपना अपमान समझकर दूत को मारने की आज्ञा देते हैं, तब दूत पुनः निवेदन करता है कि "मैं तो दूत हूँ, मैं भरत चक्रवर्ती की आज्ञा से आया हूँ, मुझे आप रोक नहीं सकते।" इसीप्रकार हे नाथ ! आपके भक्त को भी कोई आपकी भक्ति करने से रोक नहीं सकता तथा जैसे आपकी कीर्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं है; वैसे ही आपके सेवक की कीर्ति को भी कोई कैसे रोके ? हे प्रभु ! मैं जहाँ कहीं जाता हूँ, वहीं आपके केवलज्ञान और पुण्य की महिमा देखता हूँ। स्व-पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान में भी इसी का निरन्तर गुणगान होता है।

काव्य १५

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकार-मार्गम्।
कल्पान्त-काल-मरुता चलिताचलेन
किं मन्दराद्रि-शिखरं चलितं कदाचित्॥१५॥

हिन्दी काव्य

जो सुर-तिय विभ्रम आरम्भ, मन न डिग्यो तुम तौ न अचंभ।
अचल चलावै प्रलय समीर, मेरु-शिखर डगमगै न धीर॥१५॥

अन्वयार्थ – भगवन् ! **(यदि ते मनः)** अगर तुम्हारा मन **(त्रिदशाङ्ग-नाभिः)** देवाङ्गनाओं द्वारा अर्थात् देवलोक की अप्सराओं द्वारा **(मनाक् अपि)** जरा भी, थोड़ा भी **(विकार-मार्गम्)** बुरे भाव की ओर अर्थात् विकारमार्ग की ओर **(न नीतम्)** नहीं खींचा जा सका **(अत्र किं चित्रम्)** तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? **(चलिताचलेन)** पहाड़ों को भी चलायमान कर देनेवाली **(कल्पान्त-काल-मरुता)** प्रलयकाल की पवन द्वारा **(किं-मन्दराद्रि-शिखरम्)** क्या सुमेरु पर्वत की चोटी **(कदाचित् चलितम्)** कभी चलायमान की गई है ? **(अपितु न चलितम्)** अर्थात् कभी नहीं।

काव्य ११ पर प्रवचन

'हे नाथ ! आपकी चित्तवृत्ति प्रारम्भ से अडोल थी।' आपने पूर्ण निर्विकारी स्वरूपदशा प्रगट की। उसके पहले जब आप गृहस्थदशा में थे, तब भी देवलोक की अप्सरायें आपको विचलित नहीं कर सकी थीं। वस्तुतः देवलोक की इन्द्राणी या अप्सराओं में आपको विचलित करने की शक्ति ही नहीं है। हे प्रभु ! आप तो शांतरस में पूर्णतः निमग्न हैं। आपको तीन लोक के समस्त पदार्थ ज्ञेयमात्र हैं, क्योंकि निमित्तों में विकार उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

हे नाथ ! आप सदैव निर्विकारी स्वरूप में मग्न रहते हैं, इसलिए आपके

लिए सुन्दर अप्सरायें भी मोह-राग-द्वेष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् आपमें पर या निमित्त के कारण मोह-राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होता। जिस तरह कल्पान्त-काल में चलनेवाली प्रचण्ड वायु भी मेरुपर्वत को नहीं डिगा सकती। वह असम्भव कार्य भले ही सम्भव हो जाय अर्थात् सुमेरु पर्वत हिले तो हिल जावे, तथापि आपके मन को तो कोई भी नहीं डिगा सकता।

सम्मेदशिखर शाश्वत तीर्थ क्षेत्र है, उसका कभी अभाव नहीं होता। उसके नीचे स्फटिक का साँथिया है। अनन्त चौबीसी के अधिकांश तीर्थंकर वहीं से मोक्ष जाते हैं। भविष्य में भी अनन्त तीर्थंकरों का मोक्षधाम सम्मेदशिखर होगा। इन्द्र वहाँ मोक्षकल्याणक का उत्सव आयोजित करते हैं। पर्वतराज में यत्किंचित् फेर-फार भले ही हो जावे, किन्तु स्थान नहीं बदलता। उसका शाश्वतरूप नहीं बदलता, उसका शाश्वतरूप हमेशा स्थाई रहता है। भरतक्षेत्र के अन्य पर्वतों में परिवर्तन होता रहा है तथा कभी-कभी नष्ट भी हो जाते हैं, किन्तु अभी तक मेरुपर्वत के शिखर को नष्ट करने की बात तो दूर रही, उसे कोई हिला भी नहीं सका। उस पर्वतराज में रत्नमयी शाश्वत प्रतिमायें हैं। चन्द्र, सूर्य के विमानरूप देश का कभी नाश नहीं होता। हे भगवन् ! जैसे मेरुपर्वत का शिखर कभी चलायमान नहीं होता, वैसे ही आप अपनी अविकारी दशा में सुन्दरतम अप्सराओं से भी चलायमान नहीं होते, आपका मन डिगता नहीं है।

जगत में अज्ञानी जन भक्तामर स्तोत्र से लौकिक लाभ की कामना करते हैं, किन्तु यह उनका भ्रम है। वास्तव में सच्चा भक्त तो लौकिक वस्तु की कांक्षा ही नहीं करता। सम्यग्दृष्टि अपने आगामी शेष भवों में उच्च गोत्र एवं उत्तम शरीर में जन्म लेता है। अगर कोई जीव ने सम्यक्त्व के पूर्व गरीब घर में जन्म लिया हो तो सम्यग्दर्शन होने पर उसके अन्तर तथा बाह्य में भी सम्पन्नता हो जाती है।

हे प्रभु ! आपका ध्येय अचल है। आप नित्य, शांत एवं अविकारी हैं, आपके अनन्त गुण प्रकट हुए हैं, आपके कुछ भी उद्धतता (प्रयत्न) नहीं है। आपने अपने मन को पूर्णत: वश में कर लिया है। जो आत्मा सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र में लीन रहते हैं, उसे कर्म या प्रतिकूल संयोग भी नहीं डिगा सकते।

काव्य १६

निर्धूम - वर्तिरपवर्जित - तैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

हिन्दी काव्य

धूमरहित वाती गत नेह, परकाशै त्रिभुवन घर एह।
वात-गम्य नाहीं परचण्ड, अपर दीप तुम बलो अखण्ड॥१६॥

अन्वयार्थ – (नाथ ! त्वं निर्धूम-वर्तिः) हे स्वामिन् ! आप धुआँ और वाती से रहित **(अपवर्जित-तैलपूरः)** सम्पूर्णतया तेल से रहित **(कृत्स्नं इदं जगत्त्रयं प्रगटीकरोषि)** सम्पूर्ण लोकालोक को प्रकाशित करनेवाले **(चलिताचलानां मरुताम्)** पहाड़ों को डावाँडोल करनेवाली हवाओं से भी **(जातु गम्यः न)** कभी भी प्रभावित नहीं होनेवाले **(जगत्प्रकाशः अपरः दीपः असि)** विश्वभर में ज्ञान का प्रकाश फैलानेवाले अलौकिक ज्ञानदीप हो।

काव्य १६ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य, भगवान को लौकिक दीपक की तुलना करते हुए भगवान को ही सर्वोत्कृष्ट अलौकिक दीपक सिद्ध करते हैं।

हे नाथ ! आप अविचल शाश्वत चैतन्यज्योति हैं। प्रभु ! आप जगत के समस्त दीपकों से भिन्न जाति के अपर दीपक हैं। लोक में पुत्र के लिए कुल-दीपक कहा जाता है, क्योंकि वह बड़ा होकर पैसा कमाकर कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है, कुल का नाम उज्ज्वल करता है; किन्तु उसमें कुछ भी विशेषता नहीं है। तथा लौकिक दीपक के लिए बत्ती, तेल आदि की पराधीनता है; वह हवा-तूफान से बुझ जाता है और उसमें से काजल निकलता है,

इसलिए किसी भी अपेक्षा आपको लौकिक दीपकों की उपमा नहीं दी जा सकती है; क्योंकि आप में काजल जैसा कोई दोष नहीं है, पराधीनता भी नहीं है और कभी नष्ट नहीं होते।

कोई ऐसा माने कि जबतक दीपक जलता है, तबतक उसमें स्व-पर प्रकाशकपने के साथ काजल निकलता है तथा उसके बुझ जाने पर काजल उत्पन्न नहीं होता। उसीप्रकार दीपक की भाँति जबतक आत्मा स्व-पर को जानता है, तबतक रागादि होते हैं और मोक्ष में जाने पर स्व-पर प्रकाशकपना एवं रागादिक सब नष्ट हो जाते हैं अर्थात् रागादिक के साथ स्व-परप्रकाशक ज्ञान भी नष्ट हो जाता है; परन्तु ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है। इसीलिए आप लौकिक दीपक की उपमा से पार हैं। आपके तो स्व-पर प्रकाशक शाश्वत ज्ञान रहने पर भी रागादिक भावों की सत्ता का नाश हो जाता है; क्योंकि इस अवस्था में इनके इच्छा का ही अभाव पाया जाता है।

आप निर्दोष और स्वाधीन हैं। लोक में दीपक के लिए तो तेल (स्नेह) बत्ती आदि की आवश्यकता होती है, वैसे आपके केवलज्ञान के लिए रागादिक (स्नेह) की आवश्यकता नहीं है। आपके तो इच्छामात्र का नाश हुआ है तथा जगमगाती केवलज्ञान ज्योति प्रगट हुई है। आपके केवलज्ञान की परम अद्भुत महिमा है, आप विशिष्ट प्रकार की अनोखी ज्ञान ज्योति प्रकट करनेवाले अलौकिक दीपक हैं। आपके ज्ञान दीपक के सामने अन्य दीपक तुच्छ भासित होते हैं। दीपक के लिए बत्ती, तेल आदि हों, तब उसमें से तुच्छ ज्योति प्रगट होती है, जबकि आपका केवलज्ञानरूपी दीपक राग-द्वेष रहित, तीन काल और तीन लोक को एक साथ प्रकाशित करता है।

हे नाथ ! आपने स्वरूप साधन द्वारा केवलज्ञान प्रकट किया है। दीपक सीमित वस्तुओं को सीमित क्षेत्र-काल तक ही प्रकाशित कर सकता है, परन्तु आपका केवलज्ञान असीम-तीन लोक तथा तीन काल के समस्त पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करता है। वह मात्र शास्त्र के माध्यम से जाना जाय – ऐसा नहीं है; उसीप्रकार मेरा आत्मा भी राग, व्यवहार या निमित्त मात्र से जाना जाये –

ऐसा नहीं है। आपकी केवलज्ञान ज्योति व्यवहार रत्नत्रय से गम्य नहीं है। आपके ज्ञान की महिमा अद्‌भुत है। आपके ज्ञान को कौन नष्ट कर सकता है ? हवा लौकिक दीपक को हिलाती है एवं बुझा देती है; किन्तु अनन्त ज्ञानानन्द दीपक को कौन बुझा सकता है ? केवलज्ञान अनन्तकाल तक शाश्वत रहता है। अहा हा ! परमात्मस्वभाव की व्यक्तता कैसी अद्‌भुत आनन्दमय है ?

भगवान पुनः जन्म नहीं लेते, क्योंकि प्रथम वीतरागदृष्टि होते ही उन्होंने राग का आदर करना सर्वथा छोड़ दिया था। फिर वीतरागी चारित्र होने से राग का पूर्णतया अभाव हुआ। वह ऐसे परम पुरुषार्थी हुए, उनके दोष और दोष के कारणों का सर्वथा अभाव हुआ। जैसे जला हुआ बीज पुनः उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही केवलज्ञानी और सिद्ध परमात्मा फिर जन्म नहीं लेते, क्योंकि जन्म-मरण के बीजरूप राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया।

आपकी वीतराग, अविकारी परिणति में किंचित्‌मात्र भी राग-द्वेष नहीं हैं तथा किसी की सहायता की आवश्यकता भी नहीं है। जिसप्रकार दीपक तेल आदि की सहायता की अपेक्षा नहीं है– यही इसकी महिमा है। लौकिक दीपक किसी भी बाधा के होने से बुझ जाते हैं, किन्तु आपका केवलज्ञान दीपक अविनाशी है।

अगले काव्य में यह बताया है कि दीपक की उपमा तो दूर रही; परन्तु सूर्य की उपमा भी आप पर लागू नहीं पड़ती है। सूर्य प्रातःकाल उदय होता है एवं सन्ध्याकाल अस्त हो जाता है, किन्तु आपका केवलज्ञान उदय होने पर अस्त नहीं होता। लोग सूर्य को नमस्कार करके सुखी होने की प्रार्थना करते हैं; किन्तु सूर्य ऐसा नहीं कर सकता। जबकि चैतन्य सूर्य को नमस्कार किया जाय तो अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। चैतन्य सूर्य अनन्त किरणों द्वारा केवलज्ञानरूप से प्रगट हुआ है। वह अनुपमेय है, जगत में कोई पदार्थ उसकी उपमा योग्य नहीं है।

काव्य १७

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहु-गम्य:
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदर-निरुद्ध-महा-प्रभाव:
सूर्यातिशायि-महिमासि मुनीन्द्र लोके॥१७॥

हिन्दी काव्य

छिपहु न लुपहु राहु की छाँहिं, जग-परकाशक हो छिन माहिं।
घन अनवर्त्त दाह विनिवार, रवितैं अधिक धरो गुणसार॥१७॥

अन्वयार्थ – (मुनीन्द्र ! तव सूर्यातिशायि महिमा अस्ति) हे मुनीश्वर ! आपकी महिमा सूर्य से अधिक अतिशयवाली है। [**क्योंकि**] **(त्वम् कदाचित् अस्तं न उपयासि)** आप कभी भी अस्त [**अदृश्य**] नहीं होते। **(न राहु-गम्य: असि)** राहू नामक ग्रह के द्वारा कभी ग्रसित नहीं होते **(सहसा युगपत् जगन्ति स्पष्टीकरोषि)** तथा एक साथ एक समय में सहजता से तीनों लोकों को प्रकाशित करते हो, **(न अम्भोधर-उदर-निरुद्ध-महा-प्रभाव:)** आपका महाप्रभाव बादलों के उदर में अवरुद्ध नहीं होता। अत: आपकी उपमा सूर्य से भी नहीं दी जा सकती। सूर्य एक तो उदय होकर अस्त हो जाता है, उसे राहू ग्रस लेता है। सूर्य अपना प्रकाश गुहा-कन्दराओं तक नहीं पहुँचा पाता, उसका प्रताप बादलों की ओट में छुप जाता है। इसप्रकार सूर्य की महिमा सीमित है और आप की महिमा असीम है। अत: आप की उपमा सूर्य से नहीं की जा सकती।

काव्य १७ पर प्रवचन

हे प्रभु ! आपको सूर्य की कैसे उपमा दी जावे ? क्योंकि वह तो जड़ - अचेतन है और आप सम-स्वभावी चैतन्य सूर्य हो। वह सूर्य अस्त हो जाता है।

आपके केवलज्ञान दशा प्रगट हुई, चैतन्य सूर्य का उदय हुआ, जो कभी भी अस्त नहीं होता। सूर्य तो ताप वाला है, किन्तु आप स्वभाव से शीतल हैं। उसमें रहनेवाले एकेन्द्रिय जीव व देवगण तो मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु आपका केवलज्ञानमय चैतन्य सूर्य अविनाशी है। अतः आपके लिए सूर्य की उपमा समीचीन नहीं है।

जिसको निरन्तर प्रकाशमान चैतन्यस्वभाव का अंतरंग में आलंबन एवं श्रद्धान हो, उसे निज-स्वभाव की भक्ति होती है। हे नाथ ! मैं अपने स्वभाव का आश्रय लेकर केवलज्ञान प्रगट करने के मार्ग पर चल पड़ा हूँ, अब कर्म विघ्न नहीं डाल सकते हैं। साधक दशा में सम-स्वभावी त्रिकाली, चैतन्यसूर्य के भानपूर्वक भक्ति का शुभ-राग होने से पुण्य बँधता है, उससे देवगति मिलती है तथा धीरे-धीरे अंतरंग में राग का अभाव होते-होते पूर्ण दशा की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : वीतरागता की भक्ति करने का अधिकारी कौन है ?

उत्तर : श्री मानतुङ्ग आचार्य ने भक्तामर में आदिनाथ भगवान की स्तुति की है, जो इस भरत-क्षेत्र में वर्तमान युग में हुए चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम तीर्थंकर थे। जिनका ज्ञान, दर्शन, श्री, सुख, वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय से परिपूर्ण स्वभाव प्रगट हो चुका था। जिनकी दृष्टि एवं स्थिरता से रागरहित दशा प्रगट हुई, उस वीतराग भगवान का भक्त कौन हो सकता है ? वास्तव में तो जो आत्मस्वभाव का भक्त है, वही ऐसे भगवान का सच्चा भक्त हो सकता है। जो पुण्य-पाप का भक्त है अर्थात् जिसे पुण्य-पाप की महत्ता भासित होती है, वह वीतरागी भगवान का सच्चा भक्त नहीं है। एक समय तीन लोक को जाननेवाले ज्ञान-स्वभाव की महत्ता जान लेने पर पुण्य-पाप की गौणता हो ही जाती है। वास्तव में वही ऐसे परमात्मा की भक्ति कर सकता है, जिसे यह दृढ़ निश्चय हो जाये कि परमार्थ से पुण्य-पाप मेरे स्वभाव में नहीं हैं।

हे नाथ ! हम तो आपके बालक हैं। हमने आपको अपना नेता बनाया है।

हमारा स्वभाव शक्तिरूप से परिपूर्ण है। हे नाथ ! हम अपने अंतरंग की प्रभुता के स्तवन से ही आपका स्तवन करते हैं।

हे भगवन् ! अन्य सभी उपमायें आप के लिये ओछी पड़तीं हैं, आप अनुपमेय हैं। कुछ लोग आपके केवलज्ञान को सूर्य की उपमा देते हैं, परन्तु वह उपमा भी तुच्छ है; क्योंकि सूर्य सन्ध्याकल के समय अस्त हो जाता है, परन्तु आपका केवलज्ञान अविनाशी है। सूर्य को राहू ग्रस लेता है, परन्तु आपके ज्ञान को कोई ग्रस (आवृत्त) नहीं सकता है। कभी-कभी घने बादलों में सूर्य के ढक जाने से सूर्य दिखाई नहीं देता, जबकि आपका ज्ञान नित्य-उद्योतरूप ही रहता है, कर्म का आवरण नहीं रहता है। ऐसे तीन दोषों से युक्त सूर्य से आपकी उपमा कैसे दी जा सकती है ? अर्थात् नहीं दी जा सकती है। सूर्य तो जम्बूद्वीप के अर्द्धभाग को ही प्रकाशित करता है; परन्तु आपका केवलज्ञान एक ही समय में तीन लोक को प्रकाशित करता है। सूर्य तो बारी-बारी से क्षेत्र परिवर्तन करता हुआ सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है, परन्तु आपका चैतन्य स्वरूप सर्वत्र, सर्वदा, सबको, एक साथ प्रकाशित करता है। इस लोक में किसी को देव दिखाई दे तो आश्चर्य लगता है, परन्तु केवलज्ञान के सम्मुख देव की क्या महत्ता ?

मात्र व्यवहार, राग एवं संयोग को मुख्यता देने वाले गीत भगवान की भक्ति के गीत नहीं हैं, ये तो पामरता के गीत हैं। जो वस्त्र एवं शस्त्र सहित देवों की स्तुति करता है, वह संसार-परिभ्रमण की रुचि की स्तुति करता है। जिनके पूर्ण दशा प्रगट हुई तथा किंचित् भी राग नहीं रहा – ऐसे वीतरागदेव के शस्त्र, स्त्री, वस्त्राभूषणादि का शृंगार नहीं होता है। जिसे ऐसे वीतराग प्रभु का ख्याल है, अपने स्वभाव का भान है; वह ही भक्ति में लीन होकर वीतराग प्रभु का स्तवन करता है।

काव्य १८

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं
गम्यं न राहु-वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्तिः
उद्योतयज्जगदपूर्व-शशाङ्क-बिम्बम्॥१८॥

हिन्दी काव्य

सदा उदित विदलित मनमोह, विघटित नेह राहु अवरोह।
तुम मुख-कमल अपूरब चंद, जगत-विकासी जोति अमन्द॥१८॥

अन्वयार्थ – (भगवन्) हे जिनेन्द्र देव ! **(तव मुखाब्जं नित्य उदयं)** आपका मुखमण्डल नित्य उदित रहनेवाला विलक्षण चन्द्रमा है, जिसने **(दलित-मोह-महान्धकारं)** मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है, **(अनल्पकान्तिः)** जो अत्यन्त दीप्तिमान है, **(न राहुवदनस्य गम्यं न वारिदानां गम्यम्)** जिसे न राहु ग्रस सकता है और न बादल छिपा सकते हैं तथा जो **(जगत् उद्योतयत्)** जगत को प्रकाशित करता हुआ **(अपूर्व-शशाङ्क-बिम्बं विभ्राजते)** अलौकिक चन्द्रमण्डल की तरह सुशोभित होता है।

यहाँ इस काव्य में लौकिक चन्द्रमा की हीनताओं एवं जिनेन्द्र देव के अद्वितीय मुखचन्द्र की विशेषताओं का तुलनात्मक विश्लेषण किया है और जिनेन्द्र देव के मुखचन्द्र के ज्ञानालोक को अद्वितीय, अनुपम, अलौकिक और स्तुत्य बताया गया है।

काव्य १८ पर प्रवचन

हे नाथ ! आपने ज्ञानस्वभाव की सावधानी से अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश किया है और वह ज्ञानस्वभाव अन्य भव्यजीवों के मोहरूपी अन्धकार के नाश करने में निमित्त है। गहन बादलों से आवृत्त चन्द्रमा तो दिखाई नहीं पड़ता; किन्तु आपका ज्ञानानन्द स्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है, वह कभी किसी से आवृत्त नहीं होता; अतः आपके आत्मा एवं शरीर की जगत के किसी भी पदार्थ से उपमा नहीं दी जा सकती।

परमात्मा की दशा देखो ! केवलज्ञान दशा में लाखों वर्ष शरीर सहित रहने पर भी तीर्थंकर भगवान को आहार-पानी की आवश्यकता नहीं होती। जो वीतराग देव को आहार-पानी लेनेवाला मानता है, उसे पवित्रता एवं पुण्य की समझ नहीं है। जो वीतरागी १८ दोष रहित, अनन्तवीर्यवान भगवान को शरीर के रक्षण के लिए आहार-पानी लेने वाला माने, उसे निश्चय-व्यवहार की खबर नहीं है। लौकिक जन अर्हंत देवाधिदेव के स्वरूप को विकृत रूप में मानते हैं, किन्तु वह वैसा नहीं है। जिनके पूर्ण वीतरागता एवं केवलज्ञान प्रगटे, उनके बाह्य में परम औदारिक शरीर होता है और उपसर्ग नहीं होता। वे जमीन पर चलें या यक्षमन्दिर में ठहरे या कुम्भकार की दुकान में ठहरे – ऐसा माननेवाले वास्तविकता को ही नहीं समझते। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के आराधक जीव का पुण्य भी अद्भुत होता है, परन्तु वर्तमान में तो ऐसे पुण्यवान राजा भी दिखाई नहीं पड़ते। प्रजा से कर न ले, किन्तु सम्पत्ति आदि का दान करनेवाला राजा भी वर्तमान में नहीं मिलता तो फिर सर्वज्ञदेव और उनकी धर्मसभा (समवशरण) के दर्शन कैसे सुलभ हों ?

तीर्थंकर भगवान के समवशरण (धर्मसभा) में सिंह, सर्प तथा स्वर्गलोक के इन्द्र व असंख्य देव उपस्थित होते हैं। भगवान के केवलज्ञान होने से पूर्व ही क्या – उनके जन्म से भी पूर्व, उनकी माता के महल के आसपास रत्नों की वर्षा होती है। वे मुनिदशा में जहाँ आहार लें वहाँ देवों द्वारा पंचाश्चर्य प्रगट किए जाते हैं कि – यह कैसा महादान है। यह सब तीर्थंकर प्रकृति के परिणाम हैं। तीर्थंकर में पवित्रता तो पूर्ण होती है, उनका पुण्य भी अनुपम व अजोड़ होता है।

जिसे ऐसे सातिशय पुण्य का बन्ध नहीं है और जो केवलज्ञानी के स्वरूप में शंका करता है, उसे पवित्रता की खबर नहीं है और पुण्य के उत्कृष्ट स्वरूप की श्रद्धा भी नहीं है। तीर्थंकर के जन्मकाल में जिन रत्नों की वर्षा होती है, वे साधारण रत्न नहीं होते। देवों ने श्री नेमिनाथ भगवान के जन्म के समय अपार रत्न बरसाये थे। कोई व्यापारी उनमें से कुछ रत्नों को राजा जरासन्ध के पास ले गया और उसने आश्चर्यचकित राजा को बताया कि नेमिनाथ भगवान के जन्म के समय ऐसे रत्नों की वृष्टि हुई। राजा ने मंत्री से पूछा कि जिनके जन्म के समय

रत्नों की वर्षा हो – ऐसा पुण्यवान कौन जीव है ? क्या कृष्ण मेरे से अधिक समर्थ हो गये ? मंत्री ने कहा – "मुझे इस बात का ज्ञान हो तो गया था, किन्तु आपको बताया नहीं था; क्योंकि बताने पर आप उनके साथ मुकाबला करना चाहते, किन्तु आप उनकी तुलना में सफल नहीं होते; क्योंकि इन्द्र और देवता भी उनके सहायक हैं।"

राजा को ईर्ष्या हुई कि मैं तीन खण्ड का अधिपति हूँ और हजारों देवता भी सहायक हैं, फिर भी मेरे यहाँ ऐसे रत्नों की वर्षा नहीं हुई। देखो ! जब तीर्थंकर के जन्म के समय ही ऐसे पुण्य का उदय होता है, तब केवलज्ञान के समय की क्या बात ?

हे भगवान ! धर्मसभा में आपकी मुखमुद्रा एकरूप स्थिर रहती है और विहारकाल में भी ऐसी ही स्थिरता के दर्शन होते हैं। यह सब उस केवलज्ञान स्वभाव की महिमा है, जो स्वभाव की एकाग्रता से मोह का अभाव प्रगट होने पर प्रगट हुआ है। आपने अन्तर की प्रभुत्व शक्ति के आधार से केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगट किया है। आपके मुख का प्रकाश हजारों चन्द्रमा के प्रकाशतुल्य है। पुण्य के परिणामस्वरूप देवों का शरीर बहुत प्रभावान होता है, किन्तु आपके शरीर की शोभा के सामने उनकी प्रभा फीकी पड़ जाती है।

शकरकन्दवत् आत्मा आनन्दकन्द है

जैसे शकरकन्द के ऊपर की छाल शकरकन्द नहीं है। छाल को निकालने पर अन्दर जो मिठास का पिण्ड है, वह शकरकन्द है।

उसीप्रकार भगवान आत्मा में जो शुभाशुभभाव होते हैं, वे ऊपर की छालवत् हैं, वे आत्मा नहीं हैं। शुभाशुभभाव से भिन्न अन्दर जो आनन्दकन्द प्रभु विराजता है, वह आत्मा है। शुभाशुभभाव का लक्ष्य छोड़कर अन्तर्दृष्टि करने पर जो आत्मानुभूति प्रगट होती है – वही सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

– आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

प्रवचन रत्नाकर, भाग : ४, गाथा : १०२

काव्य १९

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा
युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु तमःसु नाथ।
निष्पन्न-शालि-वन-शालिनि जीव-लोके
कार्यं कियज्जलधरैर्जल-भार-नम्रैः ।।१९।।

हिन्दी काव्य

निश-दिन शशि-रवि को नहिं काम, तुम मुख-चंद हरै तम-घाम।
जो स्वभावतैं उपजै नाज, सजल मेघ तो कौनहु काज ।।१९।।

अन्वयार्थ – (नाथ !) हे स्वामिन् ! **(युष्मन्-मुखेन्दु-दलितेषु-तमःसु)** आपके मुखरूपी चन्द्रमा के द्वारा मोहान्धकार नष्ट हो जाने पर **(शर्वरीषु शशिना किम्)** रात्रि में चन्द्रमा से क्या प्रयोजन ? **(वा)** अथवा **(अह्नि-विवस्वता किम्)** दिन में सूर्य से क्या प्रयोजन ? **[जैसे कि] (निष्पन्न-शालि-वन-शालिनि)** धान्य के वनों (खेतों) की फसल पक जाने पर अर्थात् परिपक्व अनाज से सुशोभित वनों (खेतों) के लिए **(जीवलोके)** पृथ्वीतल पर **(जल-भार-नम्रैः जलधरैः कियत् कार्यम्)** पानी के भार से लदे हुए या नीचे को झुके हुए बादलों से क्या प्रयोजन है ?

काव्य १९ पर प्रवचन

हे नाथ ! आपका केवलज्ञान तो सर्वोत्तम है ही, आपके मुख-चन्द्र का प्रकाश भी सर्वोत्तम है।

हे नाथ ! आपका केवलज्ञानरूपी चैतन्य सूर्य उदित हो गया है। असहाय-क्षायिक ज्ञान की किसी से तुलना नहीं की जा सकती। हे त्रिलोकीनाथ ! जैसे अनाज पक जाने के बाद मेघ-वर्षा की जरूरत नहीं है; वैसे ही जब आपके मुख-चन्द्र की कान्ति द्वारा अन्धकार का नाश हो गया, तब सूर्य-चन्द्र से क्या प्रयोजन रहा ? तथा जैसे भोगभूमि में कल्पवृक्षों के प्रकाश में इतनी चमक होती है कि उनकी चमक के कारण सूर्य-चन्द्रमा दिखाई ही नहीं देते, उनसे कोई

प्रयोजन ही नहीं रहता; उसीप्रकार आपके मुख-चन्द्र के आगे सूर्य-चन्द्र का तेज फीका पड़ गया है। शास्त्रों में कथन आता है कि भरतक्षेत्र में जब मनुष्यों का पुण्य क्षीण होने पर कल्पवृक्षों का प्रकाश कम होने लगा, तब सूर्यास्त एवं चन्द्रोदय आदि को देखकर लोग भयभीत होने लगे कि यह क्या हो गया है ? तब ऋषभदेव के पिता नाभिराय ने उन्हें समझाया – "भाई ! कल्पवृक्ष के पूर्ण तेजस्विता के काल में सूर्य-चन्द्र का प्रकाश छिप जाता था, इसलिए वे दिखते नहीं थे। अब पुण्य क्षीण होने पर कल्पवृक्षों का तेज घटने से वे सूर्य-चन्द्र दिखने लगे हैं। शाश्वत भोगभूमि में रहनेवाले युगलिया जीवों को तो सूर्य-चन्द्र के प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि उन्हें प्रकाशवान कल्पवृक्ष सुलभ होते हैं। यहाँ श्री मानतुङ्गाचार्य उत्प्रेक्षा अलंकार में कहते हैं कि तीर्थंकर ऋषभदेव के मुख-मंडल की कांति से ही मानो सूर्य-चंद्र का प्रकाश फीका पड़ गया है।

हे नाथ ! जब आपके केवलज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश पूर्णरूप से प्रगट हुआ है तब सूर्य-चन्द्रादि की क्या आवश्यकता ? तथा आत्मा के असंख्य प्रदेशों में जब श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का बीज अंकुरित, पुष्पित व फलित होकर केवलज्ञान का धान्य पक गया है, तब बाह्य अनुकूलता रूपी मेघों की क्या आवश्यकता ? हमारे आत्मस्वभाव के सिवा अन्य किसी पदार्थ से हमें कोई प्रयोजन नहीं है।

छट्ठे गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज की शंका का समाधान गृहस्थ दशा में तीर्थंकर देव को देखने से हो जाता है। तीर्थंकर के पुण्य की कणिका भी अचिन्त्य एवं अनुपम है। अनन्त द्रव्यों की तीनों काल की अनन्त पर्यायों को एक साथ जाननेवाला ज्ञान आपको प्रगट हुआ है। ऐसी शक्ति की प्रगटता अन्य किसी की नहीं होती।

जिनवर की आज्ञा के विरुद्ध बोलना महापाप है

कषाय के वशीभूत होकर यदि कोई जिनवर की आज्ञा के विरुद्ध एक अक्षर भी कहे तो उससे इतना पाप होता है कि जिससे वह जीव निगोद चला जाता है। निगोद में जाने के पश्चात् जिनधर्म को प्राप्त करना अतिशय कठिन हो जाता है। इसलिए अपनी पद्धति बढ़ाने के लिए व मानादि कषाय का पोषण करने के लिए जिनवाणी के विरुद्ध रंचमात्र भी उपदेश देना योग्य नहीं है।

– **कविवर श्री भागचन्दजी छाजेड़**

उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला

काव्य २०

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरि-हरादिषु नायकेषु।
तेजःस्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काच-शकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

हिन्दी काव्य

जो सुबोध सोहै तुम माहिं, हरि नर आदिक में सो नाहिं।
जो दुति महा-रतन में होय, काच-खण्ड पावै नहिं सोय॥२०॥

अन्वयार्थ – (कृतावकाशम्) अनन्त गुण-पर्यायात्मक पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला **(ज्ञानं यथा त्वयि विभाति)** केवलज्ञान जिसप्रकार आपमें सुशोभित होता है **(तथा हरि-हरादिषु नायकेषु न एवम्)** वैसा हरि-हरादिक अर्थात् विष्णु-ब्रह्मा-महेश आदि लौकिक देवों में है ही नहीं। **(स्फुरन्मणिषु तेजः यथा महत्त्वं याति)** स्फुरायमान महारत्नों में जैसा तेज होता है **(किरण-आकुले अपि काच-शकले तु न एवम्)** किरणों की राशि से व्याप्त होने पर भी काँच के टुकड़ों में वैसा तेज नहीं होता।

काव्य २० पर प्रवचन

यहाँ केवलज्ञान की महिमा करते हुए कहते हैं कि हे नाथ ! आपका ज्ञान समस्त विश्व का ज्ञाता होने से पूर्ण शोभा को प्राप्त है। आपके ज्ञान की पूर्णता में समस्त विश्व की समस्त पर्यायें परिलक्षित होती हैं। देखो केवलज्ञान की महिमा ! केवलज्ञान जानता है कि अनन्त पदार्थों की अमुक स्थान में अमुक पर्यायें होंगी। ऐसी उत्कृष्ट पूर्ण पर्याय को प्राप्त केवलज्ञानी सब द्रव्यों की समय-समय की समस्त पर्यायों को जान लेते हैं। आपके ज्ञान के समक्ष अन्य किसी की कुछ भी महत्ता नहीं है। तीन लोक और तीन काल में केवली के सिवा अन्य किसी को कुछ भी ऐसा ज्ञान नहीं होता।

जिसे केवलज्ञान होता है; उसके पास स्त्री, वस्त्र-पात्र, माला, आभूषण, हथियार आदि कुछ नहीं होते। जिसे केवलज्ञान हो, उसके शरीर की दशा नग्न ही होती है तथा उसे न राग होता है और न रोग होते हैं, न क्षुधा-तृषादि १८ दोष होते

हैं। जिसके स्त्री, रोग, उपसर्ग है, वह दिव्य-शक्ति वाला केवलज्ञानी नहीं होता। हे नाथ ! वह तो आपके सामने काँच के टुकड़े जैसा है। भगवान की इच्छा बिना अनक्षरी दिव्यध्वनि होती है। प्रगट रूप से कण्ठ, ओष्ठ आदि हिले बिना सर्वांग से वाणी निकलती है। उनके क्रम से बोली जाने वाली भाषा नहीं होती। जिसके क्रमशः खण्ड-खण्ड भाषा हो, उसे खण्ड-खण्ड ज्ञान होता है। जिसके अखण्डज्ञान हो, उसकी वाणी भी अखण्ड ही होती है। उनकी वाणी में एक समय में ग्यारह अंग चौदह पूर्व का रहस्य समाहित हो जाता है। जैसे मणि के सामने काँच की कुछ भी शोभा नहीं है, वैसे ही आपके परिपूर्ण अनन्त केवलज्ञान के सामने अन्य वादियों की कोई महत्ता नहीं है। जैसे कोई पुण्यवान बलशाली राजा सिंह की सवारी करे तो इसमें उसकी क्या महानता है ? इसीप्रकार कोई देवी सिंह पर सवारी करे तो भी क्या ? किसी के हाथ में त्रिशूल हो, कोई कुल, जाति या नाम से देव हो तो इन कारणों से कोई वास्तविक देव नहीं हो सकता। जिसे दिव्य वीतरागता प्रगटी हो, वही सच्चा देव है। जिसने पूर्णानन्द दशा पर सवारी की है और जिसके किंचित् भी रोग एवं विकार नहीं है, जिसके अनक्षरी वाणी बिना किसी के लक्ष्य से होती है, वही सच्चा देव है।

कितने ही अज्ञानी जीव अम्बाजी, चक्रेश्वरी, भवानी, भूतनी, शीतला आदि को मानते हैं और तर्क देते हैं कि लौकिक मान्यता के लिए ऐसा करना आवश्यक है। कोई बच्चों की बीमारी के लिए शीतला माता की मनौती करते हैं, कोई वंध्यापन दूर करने के लिए मनौती करते हैं। ऐसे लोग नासमझ हैं। कोई व्यन्तर देवों को वन्दन करते हैं, जबकि देव स्वयं मिथ्यादृष्टि हैं।

जो किसी को जगत का कर्ता, रक्षक और संहारक मानता है; वह भी मिथ्यादृष्टि है। उसकी ऐसी मान्यता मिथ्या एवं भ्रमपूर्ण है। जो पुण्य से सुख होना मानता है, वह चैतन्य स्वभाव को नहीं जानता।

जिसके राग-द्वेषादि के चिह्न प्रत्यक्ष दिखते हैं। जो शत्रु को मारे एवं भक्ति करनेवाले को पाले, वह प्रत्यक्ष ही रागी-द्वेषी है। ईश्वर परमात्मा का यह स्वरूप नहीं है। हे सर्वज्ञ ! स्व-पर प्रकाशक, निर्मल ज्ञान जैसा आप में है; वैसा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि किसी अन्य देव में नहीं है; क्योंकि तेज की सच्ची शोभा महामणि में ही होती है, काँच में नहीं – ऐसी होती है विवेकी भक्त की समझ।

काव्य २१

मन्ये वरं हरि-हरादय एव दृष्टा
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥२१॥

हिन्दी काव्य

(नाराच छन्द)

सराग देव देख मैं भला विशेष मानिया।
स्वरूप जाहि देख वीतराग तू पिछानिया॥
कछु न तोहि देख के जहाँ तुही विशेखिया।
मनोग चित्त-चोर और भूल हूँ न पेखिया॥२१॥

अन्वयार्थ – (नाथ !) हे भगवन् ! **(मन्ये)** मैं सोचता हूँ कि **(हरि-हरादयः दृष्टाः)** विष्णु और महादेव आदि लौकिक देव हमारे द्वारा पहले देख लिये गये, पहचान लिये गये **(एवं वरम्)** यह अच्छा ही हुआ [**यतः**] क्योंकि **(येषु दृष्टेषु हृदयं त्वयि तोषं एति)** जिनके देख लेने पर हमारा हृदय आप में सन्तोष को प्राप्त हो जाता है। **(भवता वीक्षतेन किम्)** आपको पहले देखने से क्या लाभ था ? **(येषु भुवि अन्यः कश्चित्)** कि जिसके देखने पर भूमण्डल में अन्य कोई भी [**देव**] **(भवान्तरे अपि मनः न हरति)** जन्म-जन्मान्तरों में भी मन को नहीं भाता अथवा हृदय को आकर्षित नहीं कर पाता।

(**विशेष** – इस काव्य में ब्याजोक्ति अलंकार है। इसमें विरोध जैसा आभास होता है। यह भी स्तुति करने का एक प्रकार है।)

काव्य २१ पर प्रवचन

हे नाथ ! यह ठीक ही हुआ कि मैंने कुदेवादिक का स्वरूप पहले से जान लिया, अन्यथा अनर्थ हो सकता था; क्योंकि उनमें राग-द्वेष मौजूद हैं, उनको केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है। मैंने ऐसे हरि, हरादि को पहले परख लिया है। इस कारण अब मुझे विपरीत स्वरूप में सत्यता का भ्रम नहीं होगा। पूर्ण वीतरागी

ही सर्वज्ञ होता है और उसी के जन्म, जरा, भूख, प्यास, विस्मय, अरति, खेद, राग, द्वेष, मूर्छा, निद्रा, घमण्ड, मोह, पसीना, रोग, मरण एवं भय नामक अठारह दोष नहीं होते हैं। जो एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप तीन लोक, तीन काल के समस्त द्रव्य व उनके भावों को जान ले, वह केवलज्ञानी है। उसका दिव्यज्ञान एवं दिव्यवाणी अलौकिक है, उनका शरीर भी अलौकिक है – ऐसा अन्य छद्मस्थ जीवों के नहीं होता।

दुनियाँ कहती है कि भगवान ने जगत् की रचना की, किन्तु उसे त्रिकाल व त्रिलोक का ज्ञान था या नहीं ? यदि उसके ज्ञान में वस्तु पहले से मौजूद थी तो उसने किसकी रचना की ? यदि वस्तु मौजूद नहीं थी तो वह किसका ज्ञाता था ? यदि उसने वस्तु को बनाकर बाद में उसे जाना तो उस भगवान को केवलज्ञानी मानने में बाधा आती है। अत: मैंने सर्वज्ञ वीतराग भगवान की भलीप्रकार युक्ति व न्याय से परीक्षा करके कुदेवादि को एवं लौकिकजनों के द्वारा मान्य हरि-हरादि को भी अच्छी तरह जानकर निर्णय किया है, अत: अब मेरा मन अन्यत्र नहीं ठहरता है।

जैन परमेश्वर की महानता यह है कि वे लोक में अनन्त आत्माओं का अस्तित्व मानते हैं। वे प्रत्येक आत्मा को परिपूर्ण होने योग्य बताते हैं। अन्य मतों में कथा आती है कि यहाँ दान करो तो वैकुण्ठलोक में भगवान के पास जाओगे, वहाँ भोजन के लिए षट्रस से परिपूर्ण व्यंजन मिलेंगे; किन्तु यह सब काम, भोग, बंधन की ही कथा है। जबकि जैन शास्त्र में मुक्तदशा की बात है। जिसने पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की और सबकी स्वतंत्रता उद्घोषित की कि सब आत्मायें परिपूर्ण हैं। प्रत्येक जीव में परिपूर्ण शक्ति है। यद्यपि वर्तमान भूमिकानुसार भक्ति का राग एवं पुण्य का भाव होता है, किन्तु वह धर्म नहीं है। हे नाथ ! आप ही सर्वज्ञ वीतराग हैं – यह मैंने भलीप्रकार जान लिया है। अत: मुझे व्यवहार से आपमें एवं निश्चय से अपने में ही पूर्ण सन्तोष है, इसलिए मेरा मन अन्यत्र कहीं भी नहीं ठहरता। इसलिए मेरा संसार अब अधिक नहीं है। मुझे अन्य किसी की महिमा नहीं है, मेरा आपके सिवाय अन्य स्वरूप वाले किसी भी देव पर लक्ष्य नहीं जाता।

अब हमें आपकी दिव्यशक्ति का दिव्य प्रकाश मिल जाने के बाद एक भव या दो भव हों तो हों; अधिक काल संसार में नहीं रहना है। हमें अब अन्य देव-गुरु-शास्त्र को वन्दन करना नहीं सुहाता।

हे नाथ ! मैंने अपूर्व दृष्टि से आपको देखा और सुना, आपने ही पूर्णता की बात की है कि हमारे में परिपूर्ण शक्ति है। मैं अब उस पूर्ण प्रच्छन्न शक्ति को पर्याय में प्रगट करूँगा। अब अपूर्ण एवं आपके विरुद्ध वार्ता बताने वालों के प्रति मेरी श्रद्धा नहीं है।

हे नाथ ! आपने मेरे मन पर कोई अद्भुत जादू कर दिया है। अब मैं किसी भी समय राग, पुण्य या निमित्तादि में सन्तोष मानकर नहीं अटकूँगा और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का संस्कार नहीं आने दूँगा और अप्रतिहत भाव से अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त कर आप जैसा बनूँगा – ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है।

भगवान आत्मा की लगन

जैसे चित्तौड़ के राणा के साथ मीराबाई की शादी हुई; परंतु साधुओं के सत्संग करने से उसे वैराग्य हो गया और वह वैरागिन होकर वहीं रहने लगी। राणा ने मीरा के पास संदेश भेजा –

''मीरा ! तुम घर आ जाओ, मैं तुम्हें पटरानी बनाऊँगा।'' लेकिन मीरा को तो ईश्वर की लों लग गई थी, अतः उसने राणा को जवाब में कहा –

''मैंने तो मेरे नाथ (ईश्वर) के साथ लग्न कर ली है, लों लगा ली है। इसलिए अब मेरा दूसरा पति नहीं हो सकता।''

इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव की परिणति अंदर राग से भिन्न होकर शुद्ध चैतन्य के साथ जुड़ गई है। इससे वह कहता है कि मेरी निर्मल चैतन्य परिणति का मैं ही स्वामी हूँ, राग का नहीं; और राग मेरा स्वामी नहीं। शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वह आत्मा का विकार है। मैं उनका संग नहीं करूँगा। अहा हा ! मैं तो नित्यानंदस्वरूप चैतन्यमूर्ति ज्ञायकबिंब प्रभु हूँ। इसप्रकार चैतन्यस्वरूप निज चिदानंद भगवान आत्मा की जिनको लगन लगी है – ऐसे धर्मी जीव निर्मल ज्ञान व आनंद की परिणति के कर्ता हैं; किंतु राग के कर्ता नहीं हैं। जहाँ राग का भी कर्ता जीव नहीं है, वहाँ पर के कर्ता होने की बात ही कहाँ रही ?

–आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी : प्रवचन रत्नाकर, भाग : ४

(गाथा १०४ की टीका के प्रवचन से)

काव्य २२

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥२२॥

हिन्दी काव्य

अनेक पुत्रवंतिनी नितंबिनी सपूत हैं।
न तो समान पुत्र और माततैं प्रसूत हैं॥
दिशा धरंत तारिका अनेक कोटि को गिनै।
दिनेश तेजवंत एक पूर्व ही दिशा जनै॥२२॥

अन्वयार्थ – **(स्त्रीणां शतानि)** सैकड़ों स्त्रियाँ **(शतशः पुत्रान् जनयन्ति)** सैकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं। [किन्तु] **(अन्या जननी)** आपकी माता के अतिरिक्त दूसरी मातायें **(त्वत् उपमम्)** आपके समान **(सुतं न प्रसूता)** पुत्र को उत्पन्न नहीं कर सकीं, नहीं जन सकीं। [यथा] जैसे **(सर्वाः दिशः भानि दधति)** सभी दिशायें नक्षत्रों-ताराओं को धारण करती हैं [किन्तु] **(प्राची एव दिक्)** केवल पूर्व दिशा ही **(स्फुरत् अंशुजालं सहस्ररश्मिं जनयति)** स्फुरायमान किरणों के समूहवाले सूर्य या दिनकर को जन्म देती है, उदित करती है; अन्य नहीं।

काव्य २२ पर प्रवचन

इस जगत में अनेक स्त्रियाँ अनेक बच्चों को जन्म देती हैं, किन्तु भगवन्! आपकी माता ऐसी अनुपम है कि उसने आप जैसे तीनलोक में उत्कृष्ट पुरुष को ही जन्म दिया है। अतः स्वर्गलोक का स्वामी इन्द्र भी उस माता की स्तुति करता है। वह कहता है कि – 'तीर्थंकर जैसे पुत्ररत्न को धारण करनेवाली माता धन्य है, उनको हमारा नमस्कार है।' तीनज्ञान के धारक तीर्थंकर माँ के गर्भ में आते हैं, इसलिए इन्द्रों ने 'रत्नधारिणी' कहकर उस माता का अभिवादन किया है।

जगत में सैकड़ों मातायें सैकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं; परन्तु हे नाथ! इस जगत में आप जैसे अद्वितीय पुत्र को उत्पन्न करनेवाली आपकी माता अनन्य हैं। अन्य मातायें आप जैसे पुत्र को उत्पन्न करनेवाली दृष्टिगोचर ही नहीं हुईं। आपकी माता ने केवल आपको ही जन्म दिया है। आप अनुपम-आनन्द और शान्ति के सागर हैं। आपने पूर्ण पवित्रता एवं पूर्ण शान्ति प्राप्त की तथा आत्मा के लक्ष्य से दिव्यज्ञान की प्राप्ति की है।

आप जैसे वीर पुत्र को जन्म देकर अपनी कूँख को सफल किया है।

लोक में भी यह कहा जाता है कि :–

जननी जण तो भक्त जण, या दाता या शूर।
नहीं तो रहजे बाँझड़ी, मत गुमाजे नूर॥

हे माँ ! तू कायर बालक को जन्म देकर अपने यौवन के तेज को बरबाद मत करना। तू परमानन्द स्वरूप आत्मा की भक्ति करनेवाले बालक को जन्म देना। अबतक तूने पुण्य से प्रेम करनेवाले बालक अनन्त बार पैदा किये। आत्मा परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप है, उसका आश्रय लेने में ही हित है, इसलिए तू भी इसी का आदर करना और ऐसे ही पुत्र को पैदा करना।

पुण्य-पाप आदर करने योग्य नहीं हैं, इसलिए हे माँ ! तू भी ऐसे सपूत को जन्म देना, जो विकार का आदर नहीं करे, मिथ्या मान्यता का आदर नहीं करे। पवित्रता का आदर करनेवाले इन्द्र ऐसा कहते हैं कि हे माँ, आप ऐसे अविनाशी स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और उसी में स्थिर होनेवाले तथा आनन्द को उत्पन्न करनेवाले पुत्र को जन्म देना।

लोक में धनादि के दान देनेवाले अनेक हैं, उनकी चर्चा यहाँ अभीप्सित नहीं है। आत्मा के अखण्ड, शुद्धज्ञान, आनन्दमय स्वरूप का यथार्थ भान करके अन्तरंग शक्ति में से शुद्धता का आदान-प्रदान करनेवाला स्वयं आत्मा ही है – ऐसे दातार आत्मा की ही महिमा ज्ञानी को होती है। वीर वह है, जो अपने स्व-सामर्थ्य की रचनारूप आत्म-बल स्ववीर्य द्वारा आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का विस्तार कर अनंतज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को प्रकट करता है – ऐसे अलौकिक भक्त, दातार और वीर को जन्म देनेवाली हे माता ! तू धन्य है, वंदनीय है। लोक में भी कहा जाता है कि हीन आचरणवाले लड़के को जन्म देने के बजाय बाँझ रहना ठीक है। उसी के अनुरूप यहाँ समझना कि पुण्य की रुचि

वालों को जन्म देने के बजाय तो पुत्र न जनना ही ठीक है; यदि जने तो पंचकल्याणक का स्वामी बननेवाले पुत्र को ही जन्म देना श्रेयस्कर है। ऐसे वीतरागदेव को जन्म देनेवालों की स्तुति वीतरागता के रुचिवन्त व्यक्तियों द्वारा ही हो सकती है।

श्री मानतुङ्गाचार्य ने भगवान के ऐसे भव्य स्तवन की रचना की है। जिसमें सच्चा मोती हो, वह सीप भी उच्चकोटि की होती है; वैसे ही हे प्रभु ! आप जैसे पुत्र को साधारण माता जन्म नहीं दे सकती। तीर्थंकर जन्म के समय ही मति, श्रुत, अवधि तीनज्ञान के धारी होते हैं। इन्द्र उन्हें जन्माभिषेक महोत्सव के लिए सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं। वे क्षीर-सागर के जल से परिपूर्ण आठ-आठ योजन के १००८ कलशों से भावी तीर्थंकर बालक का अभिषेक करते हैं, बाद में उनको वस्त्रादि पहनाकर माता को सौंपते हैं और माता की स्तुति करते हैं कि – तुम्हारा पुत्र हमारा तारणहार है। यह उनका अन्तिम जन्म है, उनके केवलज्ञान प्रगट होगा और ॐकारमय दिव्यध्वनि खिरेगी, वे मोक्षमार्ग एवं स्वतंत्रता का उद्घोष करेंगे। अहो ! हम आत्मा की ऋद्धि समझें, इसमें तीर्थंकर निमित्त हैं।

हे माता ! तुम महाभाग्यवती हो, त्रिलोकीनाथ की माँ हो। नाथ उसे कहते हैं, जो असुरक्षित की रक्षा करता है और अशुद्ध को शुद्ध बनाता है – इस अपेक्षा से साधक अपने साध्यरूप परमेश्वर आत्मा को लक्ष्य में रखकर आपकी वन्दना करता है कि – हे नाथ ! आप मेरी निर्मलता की वृद्धि में निमित्त हो, इसीलिए ही मानो आपकी माता ने मात्र आपको ही जन्म दिया है। आपके चरणों की वन्दना चाहे इन्द्र करे या गणधर करे, किन्तु आपको उसका गर्व नहीं होता। आप तो अंतरंग में समभाव का आश्रय करते हुए, निर्ग्रन्थ परमेष्ठीपद प्रकटकर, पूर्ण परमात्मपद को प्राप्त करनेवाले हो; अन्य मत में कोई ऐसा परमात्मा नहीं है। जैसे आकाश मंडल में अट्ठाईस नक्षत्र भिन्न-भिन्न दिशाओं से उदित होते हैं, किन्तु हजारों किरणों से युक्त सूर्य को तो पूर्व दिशा ही प्रगट करती है, उसीप्रकार चार गति में भ्रमण करनेवाले जीवों को जन्म देनेवाली तो अनेक मातायें हैं, किन्तु आप जैसे पुत्र को जन्म देनेवाली माँ तो विरल ही हैं। आपके समान ही आपके माता-पिता भी महान होते हैं, वे भी निकट मोक्षगामी होते हैं। पिता तो उसी भव में या अगले दो भवों में मोक्ष चले जाते हैं और माता को दो भव और धारण करने पड़ते हैं, आप भाग्यशाली माता के अद्वितीय रत्न हैं।

हे नाथ ! आप ही परमपुरुष हैं, आप ही पुरुषोत्तम हैं, राज्य या देवत्व मिलने से कोई परमपुरुष नहीं होता, बल्कि पूर्णता प्राप्त करनेवाला ही परमपुरुष है। अज्ञानी जीव अपने आपको महान समझता है, किन्तु स्तोत्रकार आचार्य श्री मानतुङ्ग कहते हैं कि आप ही महान हैं; क्योंकि आपने परमात्म शक्ति का विकास किया है; शरीर होते हुए मुक्त पद (अरहंत अवस्था) प्रकट की एवं अनन्त आनन्द प्रकट किया है। आप विदेह-मुक्त दशा भी प्राप्त कर चुके हैं, अब पुनः संसार में नया शरीर धारण नहीं करेंगे।

जिसे आत्मा के अनन्तगुणों की रुचि हुई, वह आत्मा परमात्मा बनने योग्य है – ऐसी दृष्टिवाला ही अन्तर में पूर्ण परमात्मशक्ति का अवलम्बन लेता है और वही स्तुति का निश्चय एवं व्यवहार स्वरूप जानता है। जो आज तक परमात्मा हुए हैं, वे सब अन्तरस्वभाव का अवलंबन लेने से ही हुए हैं। जिसे परमपद की रुचि है, वह तदनुरूप ही स्तुति करता है। परमेश्वर पद की रुचि वाला जीव संयोग एवं विकार की रुचि से रहित हुआ है, अतः वह तीर्थंकर की सच्ची स्तुति कर सकता है। हे नाथ ! आपने पूर्णता प्राप्त करने का उपाय अन्तर में पूर्ण स्वभाव का साधन बताया है, अतः मैं आपको सर्वोत्तम मानता हूँ। आपकी स्तुति से मेरा मन जैसा संतुष्ट होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं होता है।

वह घर धन्य है !

अरे भाई! तुझे आत्मा के तो दर्शन करना नहीं आता और आत्मा के स्वरूप को देखने हेतु दर्पण के समान जिनेन्द्रदेव के दर्शन भी तू नहीं करता तो तू कहाँ जायेगा? भाई! जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन भी न करे और अपने को जैन कहलावे – ये तेरा जैनपना कैसा? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु के दर्शन-पूजन होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक दान दिया जाता है; वह घर धन्य है ! इसके बिना घर तो श्मशानतुल्य है। ऐसे धर्मरहित गृहस्थाश्रम को तो हे भाई! समुद्र के गहरे पानी में तिलाञ्जलि दे देना, नहीं तो यह तुझे डुबो देगा।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : श्रावक धर्मप्रकाश, पृष्ठ : ९२

काव्य २३

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्य-वर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिव-पदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥२३॥

हिन्दी काव्य

पुरान हो पुमान हो पुनीत पुण्यवान हो।
कहैं मुनीश अन्धकार-नाश को सुभान हो॥
महंत तोहि जानके न होय वश्य कालके।
न और मोहि मोखपंथ देह तोहि टालके॥२३॥

अन्वयार्थ – (मुनीन्द्र !) हे मुनियों के आराध्य, मुनिनायक ! **(मुनयः)** मुनिजन, ज्ञानीपुरुष **(त्वाम्)** तुमको **(आदित्यवर्णम्)** सूर्य के समान दैदीप्यमान **(अमलम्)** दोष रहित, निर्मल **(तमसः परस्तात्)** अज्ञान-अन्धकार से परे **(परमं पुमांसम्)** परमपुरुष, लोकोत्तरपुरुष **(आमनन्ति)** मानते हैं, कहते हैं। [और] **(त्वाम् एव सम्यक् उपलभ्य)** तुमको ही भलिभाँति भक्तिपूर्वक प्राप्त करके अपने जन्म-मरण को जीतते हैं अर्थात् जन्म-मरण का अभाव करते हैं, [यत्] क्योंकि **(शिव-पदस्य अन्यः शिवः पन्थाः न)** मोक्षपद प्राप्त करने का दूसरा कोई प्रशस्त पथ नहीं है।

काव्य २३ पर प्रवचन

हे तीर्थंकर देवाधिदेव ! हे मुनिनाथ ! मुनिगण आपकी आराधना करते हुए कहते हैं – कि हे भगवान ! आप सूर्य के समान तेजस्वी हैं, आप निर्मल, निर्मोही, परमपुरुष हैं। आपने अपने स्वरूप को प्राप्त करके मृत्यु पर विजय प्राप्त की है; अतः आप ही सच्चे मृत्युञ्जय हैं। आपके सिवाय अन्य मत-मतान्तरों द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग हितकर नहीं है, आपके द्वारा बताया गया मुक्तिमार्ग ही हितकर है, आप ही सच्चे हितकर हैं। अतः मुनिजन आपको ही मोक्षमार्ग का अद्वितीय नेता मानते हैं।

सम्प्रदाय विशेष का वेश धारण करने मात्र से मुनित्व की प्राप्ति नहीं हो जाती। ज्ञानानन्द स्वरूपी भगवान-आत्मा की यथार्थ अनुभूतिस्वरूप निश्चय-सम्यग्दर्शन सहित अतीन्द्रिय आनन्द का सेवन करनेवाले ही सच्चे मुनि हैं। अन्तर में निजपद में रमण करनेवाले ही सच्चे साधु हैं।

दिगम्बर जैनधर्म ही मुक्ति का मूलमार्ग है। ऐसे धर्म में दीक्षित दिगम्बर वेशधारी सर्व बाह्यपरिग्रह के त्यागी साधु भी यदि बाह्यक्रिया में धर्म मानें, पुण्य या व्यवहार में आत्मकल्याण मानें तो वे भी सच्चे साधु नहीं हैं। पञ्च महाव्रत का भाव शुभास्रव है, बन्ध का कारण है; चैतन्य की जागृति को रोकनेवाला है, समयसार में तो इन्हें विषकुम्भ कहा है। मैं अन्तर्मुखी एकाग्रता से तो ज्ञाता ही हूँ। शुभाशुभ भाव आस्रव है, जो इस आस्रव का आदर छोड़ता है, वही सच्चा मुनिपना प्रगट करता है। ऐसे मुनि के वस्त्र-पात्र नहीं होते। उनके २८ मूलगुणों का शुभविकल्प होते हुए भी उनकी मुख्यता नहीं होती। ऐसी निश्चय-व्यवहार की संधि सहित वीतरागभाव रूप ही मोक्षमार्ग है। तीर्थंकर भगवान ऐसे ही मोक्षमार्ग के नेता हैं।

हे तीर्थंकर भगवान ! आप मुनियों के नाथ कहलाते हैं। जो वस्त्र-पात्र सहित हों, वे तो मुनि हैं ही नहीं; किन्तु जो मात्र नग्न रहें, वे भी मुनि नहीं हैं। 'शरीर की क्रिया मेरे अधीन नहीं है, पर से मेरा हित-अहित नहीं है, मैं तो नित्य ज्ञाता हूँ' – ऐसी श्रद्धा-पूर्वक स्वसन्मुखता या आत्मलीनता द्वारा ही मुनिदशा के योग्य शुद्धि प्रकट होती है, उसके संरक्षण करने एवं पूर्ण करने में आप निमित्त हैं; इसलिए मैं आपको अपना कुशल-क्षेम करनेवाला मानता हूँ। आप अनंतज्ञान के धारी सर्वज्ञ हैं।

हे नाथ ! आपको रागादि का विकल्प नहीं है। मुनिसंघ का क्या हुआ? कितनों ने धर्म प्राप्त किया व कितने धर्म प्राप्त नहीं कर सके – ऐसा जिन शासन का विकल्प भी आपको नहीं है। वाणी, वाणी के कारण से प्रकट होती है। पात्र जीव अपने कारण से धर्म प्राप्त करता है। जब जीव अपने कारण से धर्म प्राप्त करेगा तो जिनवाणी को उसमें निमित्त कहा जायेगा। वाणी का क्या फल हुआ? यह देखने के लिए भगवान नहीं रुकते हैं। संसार में अकाल पड़े, लड़ाई हो, बीमारी हो तो भी आपको करुणा का विकल्प नहीं होता; क्योंकि आप मोह रहित निर्विकारी, पूर्ण वीतरागी बन गये हो।

जो दुनिया के दुःख से दुःखी हो, रागी हो, वह परमात्मा नहीं है। जो दुनिया के लिए अवतार ले, वह भगवान नहीं है। जो तीनलोक का ज्ञाता-दृष्टा रहे एवं पूर्ण आनन्द का अनुभव करे, वही भगवान है। वीतरागी पर में सावधानी रखें – ऐसा नहीं होता। जीवों को दुःखी देखकर, उनकी सहायता करने का विकल्प भी जिनेन्द्रभगवान को नहीं होता। मोह से दूर रहनेवाले १८ दोषों से रहित ही देव कहलाते हैं। आप तीनों काल के ज्ञाता हैं, इसलिए आपने कहा – 'मैं जिसतरह पूर्ण हो गया, उसीतरह तुम भी पूर्ण होने योग्य हो।' आप किसी भी विकार से परेशान नहीं हैं। आपको अब कोई भव धारण नहीं करना है।

वीतरागदेव का वास्तविक स्वरूप समझे बिना साध्य का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

सर्वज्ञदेव ज्ञानी को निमित्त होते हैं। ज्ञानी उन्हें परमपुरुष मानता है। दिगम्बर मुनि छठे-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलते हैं। वे आपको ही आराध्यपने स्वीकारते हैं, वे कहते हैं कि – "हे नाथ! आपकी पूर्णशक्ति, अनंतज्ञान, आनन्दमय है; उस शक्ति में से ही आपका विकास हुआ है। मुझे भी उसी उपाय का ही आदर है, यही वास्तविक मृत्युञ्जय जाप है। अज्ञानी जीव अन्य नानाप्रकार के मृत्युञ्जय जाप जपते हैं। एक जमींदार के शरीर में वेदना हुई तो मृत्युञ्जय का जाप जपा गया, किन्तु वह अन्त में चीख मारते हुए मर गया; उसका अधिकार, राज्य, पैसा उसे नहीं बचा सके।

हे नाथ! मैंने सम्यग्ज्ञान द्वारा आपकी शरण ली है तो मेरा बेड़ा पार होने ही वाला है।

हे नाथ ! आप (सर्वज्ञ परमात्मा) की वाणी पात्र जीवों को मोक्षमार्ग में निमित्त है। योग्य जीव ही सच्चे मृत्युञ्जय का जाप जपते हैं। ज्ञानानंद स्वभाव का भान करनेवाला ही मृत्यु को जीतता है। यह सभी कहते हैं कि हमारे अरहंत देव तीनकाल को जानते हैं; किन्तु क्या उन्हें केवलज्ञान के स्वरूप की खबर है?

जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ नहीं होसी, काहे होत अधीरा रे।।

सर्वज्ञभगवान-परमात्मा के पूर्ण ज्ञान प्रकट हुआ है, ऐसे अनन्तज्ञानी हो गये हैं। उनका स्वरूप जानकर अन्तर में अपने पूर्ण-स्वरूप की पहिचान करे तो

सर्वज्ञ की श्रद्धा अपनी शान्ति में निमित्त होती है। मात्र 'णमो अरहन्ताणं' जपने की बात नहीं है।

जैनों में 'अरहंते सरणं पव्वज्जामि' रूढ़ि से बोला जाता है, किन्तु क्या वीतराग भगवान शरण देते हैं, क्या उनके पास आज तक किसी को शरण मिली है? नहीं, नहीं मिली। यह तो विनय से बोलने का व्यवहार है। उन्होंने तो आत्मा की पूर्ण शक्ति का ज्ञान कराया है। तुझे तेरी आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो तो अरहन्त का ज्ञान हुआ कहलायेगा। हे नाथ ! आप स्वयं मृत्यु को जीतकर अमर हुए और जगत को अमरता का संदेश दिया। शिव अर्थात् उपद्रव रहित कल्याणकारी मार्ग का अन्य कोई रास्ता नहीं है। निश्चय से प्रत्येक आत्मा पूर्ण शक्तिमान परमात्मा है। जो उसका विचार कर अन्तर में सावधान हो तो उसकी मृत्यु नहीं हो और वह मोक्षदशा को प्राप्त करे, इसके सिवाय अन्य कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है।

सांख्य मतवाले आत्मा को पूर्णतः निर्मल एवं अपरिणामी मानते हैं; किन्तु यदि ऐसा हो तो फिर अवतार अर्थात् जन्म नहीं होना चाहिए। जो आत्मा को सर्वथा शुद्ध माने और संसार रागादि को जड़कर्म द्वारा किया जाने वाला कहे – यह बात यथार्थ नहीं है।

हे भगवान ! आप परमपुरुष हो। पुरुष उसे कहते हैं, जो अपने गुण में रहे, जो अपने ज्ञान और आनन्द में रमे वह पुरुष है – ऐसा 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में कहा है। हे भगवन् ! आप परमपुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभाव को जानकर कृत-कृत्य होते हुए आत्मा के परमशांत रस में लीन हैं। सम्यग्दृष्टि अपनी श्रद्धा अपेक्षा कृत-कृत्य होकर अपने गुण में आंशिक रूप से लीन होता है, इसलिए अविरतसम्यग्दृष्टि भी सत्पुरुष है। जो पुण्य-पाप में रुचि ले और उनसे आत्मा का लाभ माने, वह तो पुरुष ही नहीं है। जैसे नपुंसक के पुत्र नहीं होता, वैसे ही पुण्य से आत्मकल्याण नहीं हो सकता है। धर्म का जन्म तो धर्मी आत्मा से ही होता है, इसलिए पुण्य से धर्म माननेवाले के अंशमात्र भी धर्म नहीं होता है। सन्तों ने इस कटु सत्य को सर्वत्र डंके की चोट प्रकट किया है।

आचार्य श्री मानतुङ्ग ने यहाँ इस काव्य में सत्य को प्रकट किया है। वे कहते हैं – कि आप परमपुरुष हैं; क्योंकि आपने परमपुरुषार्थ द्वारा कृत-कृत्य होकर आत्मा का उपदेश दिया है। जो आपके अभिप्रायानुसार परमपद का ध्यान करता है, उसके जन्म-मरण नहीं होता। जिस भाव के करने से जन्म हो, उसी भाव के करने से जन्म-मरण दूर नहीं हो सकता, यानि उसका पुनः जन्म-मरण अवश्य होता है। पुण्य-पाप दोनों संसार के कारण हैं, पुण्य से लाभ माननेवाला आप (भगवान) से दूर रहता है। जिसे निर्मल परमात्मा की शक्ति का आदर नहीं है, वह विकार का आदर करता है, इसलिये उसकी मुक्ति नहीं होती।

हे भगवन् ! आपकी आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य आदि सर्व शक्तियों का विकास एक साथ हो गया है, इसीप्रकार प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञशक्ति सर्वदर्शित्व शक्ति, अकारणकार्य शक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ हैं। उन सबका आधार एक अपना आत्मा ही है, अतः इसी का भान व श्रद्धान कर ! जिन्होंने अपने आत्मीय गुणों की पूर्ण दशा प्रकट की है – वे ही अरहंत परमात्मा हैं। उनका नाम स्मरण करनेवाला भी कालान्तर में अपने को पहचान लेता है, आत्म भान कर लेता है। आत्मा के भान-श्रद्धान बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। यदि सुखी होना हो तो अपने आत्मा और सच्चे परमात्मा की पहिचान करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन होने पर ....

सम्यग्दर्शन होने पर धर्मी को सिद्ध-समान अपना शुद्ध आत्मा श्रद्धा, ज्ञान एवं स्वानुभव में स्पष्ट आ जाता है; उसकी गति-परिणति विभावों से विमुख होकर सिद्धपद की ओर चलने लगती है, वह मोक्षमार्गी है। पश्चात् ज्यों-ज्यों स्थिरता और शुद्धता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रगट होता जाता है। श्रावकपना तथा मुनिपना तो आत्मा की शुद्ध-दशा में रहते हैं, वे कोई बाहर की वस्तु नहीं हैं। जैनधर्म में तीर्थंकरदेव ने मोक्षमार्ग कैसा कहा है, उसकी खबर न हो और विपरीतमार्ग में जहाँ-तहाँ मस्तक झुकाता हो – ऐसे जीव को जैनत्व नहीं होता। जो जैन हुआ, वह जिनवरदेव के मार्ग के सिवाय अन्य को स्वप्न में भी नहीं मानता।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी : श्रावक धर्मप्रकाश, पृष्ठ ५४

काव्य २४

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्।
योगीश्वरं विदित-योगमनेकमेकं
ज्ञान-स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

हिन्दी काव्य

अनन्त नित्य चित्त की अगम्य रम्य आदि हो।
असंख्य सर्वव्यापि विष्णु ब्रह्म हो अनादि हो॥
महेश कामकेतु योग ईश योग ज्ञान हो।
अनेक एक ज्ञानरूप शुद्ध संतमान हो॥२४॥

अन्वयार्थ – हे प्रभु ! **(सन्तः)** सन्तजन, सज्जनपुरुष **(त्वाम्)** आपको **(अव्ययम्)** अव्यय अक्षय **(विभुम्)** व्यापक, उत्कृष्ट विभूति से सुशोभित **(अचिन्त्यम्)** अचिन्त्य, मन के अगोचर **(असंख्यम्)** गणनातीत **(आद्यम्)** आदितीर्थंकर **(ब्रह्माणम्)** आत्मलीन, सकल कर्मरहित सिद्ध परमेष्ठी या शुद्धात्मन् **(ईश्वरम्)** सर्वशक्ति सम्पन्न **(अनन्तम्)** अनन्तगुण संयुक्त, अनन्त चतुष्टयधारक **(अनङ्गकेतुम्)** काम के लिए केतुवत् कामजयी या अशरीरी **(योगीश्वरम्)** मुनिनायक **(विदितयोगम्)** योगवेत्ता, रत्नत्रयरूप योग के ज्ञाता **(अनेकम्)** अनन्तगुणधारक, सहस्रनामों से स्तुति योग्य **(एकम्)** अद्वितीय **(ज्ञानस्वरूपम्)** ज्ञानमूर्ति, केवलज्ञान स्वरूपी **(अमलम्)** कर्ममल रहित त्रिकालशुद्धस्वभावी आदि अनेक नामों से **(प्रवदन्ति)** सम्बोधित करते हैं, स्मरण करते हैं।

काव्य २४ पर प्रवचन

हे सर्वज्ञ देव ! सन्तजन आपका अव्यय (अक्षय), विभु, अचिन्त्य,

असंख्य, आदिपुरुष, ब्रह्मा, ईश्वर, अनन्त, अनङ्गकेतु, योगीश्वर, विदितयोग, एक, अनेक, ज्ञान-स्वरूप, अमल आदि विशेषणों से वर्णन करते हैं।

(१) अव्यय (अक्षय, अविनाशी) :– सज्जन-पुरुष, सम्यग्ज्ञानी संत जो आपको जानते हैं, वे आपको अव्यय (अमर) कहते हैं; क्योंकि आपका जो स्वरूप पूर्ण रूप से प्रकट हुआ है, उसका कभी नाश नहीं होता। संसार में लौकिक जन स्वर्ग के देवताओं को 'अमर' कहते हैं, किन्तु यह कथन मनुष्य-तिर्यंचों की अपेक्षा उनकी अधिक आयु होने के कारण है, अन्यथा वे देवता भी आयु पूर्ण होने पर मरते ही हैं। किन्तु हे भगवन् ! आप मोक्ष जाने के बाद फिर कभी कहीं जन्म नहीं लेते। जैसे – मक्खन से घी बनाया जाता है, किन्तु उस घी से फिर मक्खन नहीं बनाया जा सकता; वैसे ही परमात्मा का फिर जन्म नहीं होता। अपूर्ण दशा में अल्प पुरुषार्थी को भी राग के प्रति आदर भाव नहीं होता तो पूर्ण दशा होने के बाद आपको राग भाव आये, यह संभव नहीं है; अतः आप अविनाशी ही हैं।

(२) विभु :– आपका ज्ञान समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानता है; अतः आप 'विभु' हैं अथवा आपके अपने असंख्य प्रदेशों में आपके गुण और उनमें आपकी आत्मा व्यापक है, इसलिए आप विभु हैं। क्या आप आत्मा की आदि (प्रारम्भ) नहीं जानते? और नहीं जानते हैं तो क्या आपका ज्ञान अपूर्ण है? नहीं; क्योंकि वस्तु ही अनादिकाल से सत् है, आप उसे उसी रूप में जानते हैं। जो ज्ञान अनादिस्वरूप वस्तु को आदि स्वरूप जाने तो वह ज्ञान विपरीत है। जो अनादि एवं अनन्त को अनादि-अनन्त रूप ही जानता है, वही सच्चा ज्ञान है। आत्मा-परमात्मा अनादिकाल से है, वस्तु नई नहीं होती, हाँ उनकी पर्याय बनती बिगड़ती रहती है; किन्तु हे भगवन् ! आपने समस्त पदार्थों की तीनों कालों की पर्यायों को जान लिया है। आपके ज्ञान में कुछ भी अज्ञेय नहीं है। अज्ञानी शंका करता है – ''यदि भगवान के सर्वज्ञता (केवलज्ञान) है तो

मेरी प्रथम व अंतिम पर्याय कौन-सी है? इसका समाधान यही है कि जो वस्तु है, उसका प्रारम्भ किस दिन से हुआ, यह प्रश्न ही नहीं बनता। जो है, उसका प्रारम्भ एवं नाश कैसा? जो है, वह अपने स्वरूप की सत्ता छोड़े बिना मात्र पर्याय बदलता रहता है। अनादिकाल से प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय एवं ध्रुवरूप है। प्रत्येक वस्तु नित्य एवं अनित्य है। वह द्रव्यदृष्टि से नित्य एवं पर्यायदृष्टि से अनित्य है।

(३) अचिन्त्य :– आप मन की कल्पना या शुभाशुभ के विकल्प द्वारा जाने जा सकें – ऐसा आपका स्वरूप नहीं है। आत्मा मन, वचन और काय के राग के आलंबन द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह शुभराग रूप व्यवहार से भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। आत्मा का स्वरूप पूर्णज्ञान घन है, अतः वह स्वसंवेदन ज्ञान से ही जाना जा सकता है। आत्मा स्वानुभव से स्व-प्रकाशक ज्ञान प्राप्त करे, तभी वह अपना स्वरूप जानता है। राग, रूप, भक्ति या चिन्तवन द्वारा स्वभाव का चिन्तवन नहीं हो सकता, इसलिए आप अचिन्त्य हैं।

(४) असंख्य :– हे भगवन् ! आप तीनकाल और तीनलोक को जानते हैं, आपका ज्ञान संख्या की सीमा में सीमित नहीं है; आप पर्यायों को अनन्त रूप ही जानते हैं, इसलिए उनकी संख्या नहीं है; अतः आप असंख्य हैं।

(५) आदिपुरुष :– हे आदिनाथ! आपने इस अवसर्पिणी काल में धर्मकाल रूप युग (काल) के प्रारम्भ में जन्म लिया। आपने योगभूमि के काल के बाद धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया; इसलिए आप धर्मयुग के आदिपुरुष हैं।

(६) ब्रह्मा :– हे भगवन्! आपने पूर्ण आनन्द प्राप्त किया; इसलिए आप ब्रह्मा हैं। जिसके राग-द्वेष-मोह आदि रहे और जो स्त्री आदि के राग से विचलित हो जाये, वह ब्रह्मा नहीं है। आप ब्रह्मा अवश्य हैं; किन्तु किसी के द्रव्य-गुण-पर्याय के रचियता नहीं हैं।

(७) ईश्वर :– हे भगवन् ! आपने पूर्ण विकास प्राप्त कर लिया है, अब कुछ भी करना शेष नहीं है। आप कृत-कृत्य हो गये; इसलिए आप ईश्वर हैं। श्रीमद् रायचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि में कहा है :–

कर्त्ता ईश्वर है नहिं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
अथवा प्रेरक ते गण्ये ईश्वर दोष प्रभाव॥

ईश्वर किसी का कर्त्ता नहीं है, वह वीतरागी, सर्वज्ञ, पूर्णानन्द स्वरूप है। यदि उसको किसी अन्य का कर्त्ता मानें तो उसके अपूर्णता, वासना, विकाररूप दोष विद्यमान हैं – ऐसा भी मानना पड़ेगा। फिर उसकी उस दशा को पूर्ण शुद्ध दशा नहीं कह सकते। इसलिए अन्य मतों में कर्त्तारूप कल्पित ईश्वर, सच्चा ईश्वर नहीं है। हे भगवान ! वास्तविक रूप से तो आप ही सच्चे ईश्वर हैं।

(८) अनन्त :– आप अनादिकाल से हैं एवं अनन्त काल रहेंगे, आप अनन्त शक्ति एवं गुणों के धारक हो, आपने प्रत्येक द्रव्य का अनादि अनन्तस्वरूप बताया है; इसलिए आप अनन्त हैं।

(९) अनङ्गकेतु :– आप पाँचों शरीरों के संयोग को दूर करने में निमित्त हैं; इसलिये आप अनंगकेतु हैं। आपने केवलज्ञान प्रकट कर दिव्य उपदेश दिया, अनेक जीवों ने आपकी दिव्यध्वनि को सुनकर अपना संशय नष्ट किया और अन्त में ज्ञानानन्द की लीनता द्वारा वे काम-भोगादि सर्वप्रकार की इच्छा नष्ट करते हैं – उन सब में आप निमित्त हैं।

(१०) योगीश्वर :– हे भगवन् ! आप पुण्य-पाप का सम्बन्ध तोड़कर निर्मल ज्ञान स्वभाव में लीन होनेवाले योगीश्वर हैं अथवा मुनियों के स्वामी होने से आप योगीश्वर हैं। आपके मन-वचन-काय के कंपन व प्रमाद का अभाव है। आप अपने स्वभाव की लीनता को जानते हैं और आप ही के अनुसार भव्यजीव पर-सन्मुखता की दृष्टि को छोड़कर स्व-सन्मुख होते हैं; इसलिए आप उनके

लिए इसमें निमित्त हैं।

(११) अनेक :– आत्मा एक होते हुए भी अनन्त गुणों एवं अनन्त पर्यायों सहित है; इसलिये आप अनेक हैं। दो वर्ष के बालक को अपने बड़े की शादी के गाने-बजाने आदि में मजा नहीं आता; जो नाना मिठाइयाँ बनती हैं, उनके स्वाद से भी वह अपरिचित है। इसीप्रकार जो आत्मा की शक्ति से अपरिचित है, वह जिज्ञासावृत्ति से भी रहित है, उसे आत्मा की चर्चा में आनन्द नहीं आता। निर्विकार स्वभाव के आश्रय से ही पर्याय का विकार नष्ट होता है। आपने यह सब कुछ ज्ञान प्रकट किया है। अनेक भव्य-जीवों ने इस ज्ञान को जानकर मोक्ष-मार्ग पर चलकर मोक्षदशा पाई है; अतः आप उनकी मोक्षप्राप्ति में निमित्त हैं।

(१२) एक :– आप वस्तु की दृष्टि से एक हैं। यह आपने ही बताया कि प्रत्येक आत्मा का अपने में ही एक व अनेकपना है।

(१३) ज्ञान-स्वरूप :– आत्मा मात्र ज्ञान का पिण्ड है। जैसे लेंडी-पीपल में से (चरपरापना) तीक्ष्णता उसकी शक्ति में से प्रकट होती है; वैसे ही आत्मा पूर्णतः ज्ञानस्वरूप है। जो अन्तर्मुख होकर ऐसी आत्मा की पहचान करे, उसको सर्वज्ञदेव की पहचान होती है।

(१४) विदितयोग :– रत्नत्रयरूप योग के ज्ञाता होने से अथवा अपने पूर्णज्ञान स्वरूप होने से आपने सबकुछ जान लिया है, कुछ भी जानना शेष नहीं रहा; इसलिए आप विदितयोग अर्थात् ज्ञान-स्वरूप हो।

(१५) अमल :– कोई कहे – तीनकाल का ज्ञान होने से मोक्ष नहीं; क्योंकि संसार में अधिक ज्ञानवाले को अधिक राग आता है, तब भगवान तो एक साथ तीनकाल को जानते हैं तो उनको राग होता होगा न? नहीं; उन्हें किसी प्रकार का थोड़ा सा भी राग-द्वेष नहीं है, इसलिए वे अमल हैं।

इसप्रकार आपके भक्त सन्तजन आपको नानाप्रकार से स्मरण करके आपके प्रति भक्ति प्रगट करते हैं।

काव्य २५

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धि-बोधात्
त्वं शङ्करोऽसि भुवन-त्रय-शंकरत्वात्।
धातासि धीर-शिव-मार्ग-विधेर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

हिन्दी काव्य

तुही जिनेश बुद्ध है सुबुद्धि के प्रमानतैं।
तुही जिनेश शंकरो जगत्त्रये विधानतैं॥
तुही विधात है सही सुमोखपंथ धारतैं।
नरोत्तमो तुही प्रसिद्ध अर्थ के विचारतैं॥२५॥

अन्वयार्थ – (विबुध अर्चित) देवों, गणधरों एवं विद्वज्जनों द्वारा पूजित हे प्रभु ! **(बुद्धः त्वमेव)** आप ही वास्तव में बुद्ध हो; **(बुद्धिबोधात्)** क्योंकि आपने केवलज्ञान प्राप्त किया है अथवा **(विवुधार्चित बुद्धिबोधात् बुद्धः त्वम् एव)** आपके केवलज्ञान की पूजा देवों, गणधरों द्वारा की गई है इसलिए आप ही वास्तव में बुद्ध हो। **(त्वं शङ्करः असि भुवनत्रय शङ्करत्वात्)** तीनों लोकों को सुख-शान्ति में निमित्त होने से तुम ही शङ्कर हो। **(धीर ! शिव-मार्ग विधेः विधानात् त्वम् एव धाता असि)** हे धैर्य धारक परमेश्वर ! मोक्षमार्ग की विधि बतलानेवाले होने से आप ही विधाता हो, मोक्षरूपी सुख की सृष्टि करनेवाले होने से आप ही ब्रह्मा हो। **(त्वम् एव व्यक्तं पुरुषोत्तमः असि)** आप ही प्रगट पुरुषोत्तम (विष्णु) हो।

काव्य २५ पर प्रवचन

देखो ! जिसे वीतराग, सर्वज्ञ दशा प्रगट हुई है, दिव्य परमात्मदशा प्रगटी है, वह देव है। हे नाथ ! अनेक गणधर विद्वान आपको पूज्य मानकर स्तवन करते हैं। आपकी बुद्धि केवलज्ञान स्वरूप हो गई है, इसलिए आप बुद्ध हो। जो पूर्ण वीतराग हो, वही सर्वज्ञ होता है – ऐसा हुए बिना किसी को बुद्ध मानना व्यर्थ है। भगवन् ! आपने केवलज्ञान रूप बुद्धि प्राप्त की है; इसलिए चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय) के धारक गणधर भी आपकी पूजा करते हैं; इसलिये आप बुद्ध हैं। दुनियाँ जिसे बुद्ध कहती है, वे तो आत्मा को क्षणिक ही

मानते हैं – इसलिए वे सर्वज्ञ नहीं हैं; वे आत्मा को वस्तुरूप नित्य नहीं मानते हैं। उनके मत में कोई सर्वज्ञ नहीं है। उन्हें सर्वज्ञ के स्वरूप की खबर ही नहीं है। वे वृद्धावस्था, रोग, मरणादि को दुःख मानकर उदास होने के लिए कहते थे – ऐसे क्षणिकपने की मान्यतावाले को केवलज्ञान नहीं हो सकता। हे नाथ ! आपने प्रत्येक वस्तु को नित्य-अनित्य आदि सम्पूर्ण धर्मों से जाना है; इसलिए आप ही बुद्ध हैं और सम्यग्ज्ञानी आपको ही देवरूप में पूज्य मानते हैं; इसलिए आप ही सच्चे 'बुद्धदेव' हैं।

शङ्कर :– हे नाथ ! आप ही सच्चे सुख के प्राप्त करने में निमित्त हैं, इसलिए आप शङ्कर हैं। जो जगत का नाश करे, वह शङ्कर नहीं है। पुण्य-पाप, मिथ्यात्वादि सर्वदोष एवं विकार का संहार कर आप पूर्ण शुद्धदशा प्रकट करनेवाले हैं; इसलिये आप ही वस्तुतः 'शङ्कर' हैं।

धीर :– हे नाथ ! आप इतने धैर्यवान हैं कि तीनकाल के अनन्तानन्त पदार्थों को अनन्तकाल तक जानते हुए भी आप धैर्य नहीं छोड़ते हैं। लोगों के दुःखों को देखकर भी आपका धैर्य नहीं छूटता है। तीनलोक के सर्व पदार्थ स्वयं अपने कारणों से परिवर्तित होते रहते हैं। आप जगत के जीवों की सहायता करने की रागबुद्धि नहीं करते; अतः आप पूर्ण सच्ची शान्ति धारण करते हैं; इसलिए आप 'धीर' हैं।

ब्रह्मा :– अन्य मत में मान्य जगत का कर्ता ब्रह्मा वस्तुतः कोई नहीं है। पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर पूर्णानन्द स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग का उपाय होता है – ऐसे मोक्षमार्ग की विधि बतानेवाले होने से आप ही 'ब्रह्मा' हैं। जो तिलोत्तमा नामक अप्सरा के रूप से आकृष्ट होकर तपस्या से भ्रष्ट हो गये; वह वास्तविक ब्रह्मा नहीं है।

पुरुषोत्तम :– हे नाथ ! आप प्रकट रूप से पुरुषों में उत्तम हैं। संसारीजीव नर-नारक-तिर्यंच-देव नामक चारों गतियों में मोह के कारण भ्रमण करते हैं। आपने उन्हें नर से नारायण (प्रभुत्व) की प्राप्ति का उपाय बताया – इसलिए ज्ञानीजन आपको ही पुरुषोत्तम मानते हैं। आत्मा केवलज्ञानस्वरूप है, वह अनासक्त भाव से भी पर का कुछ नहीं कर सकता। अन्य का 'कुछ' करने और अनासक्ति रखने की मान्यता ही मिथ्या है। आपने सम्यक् प्रकार से जिस विधि से चिदानन्द स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान एवं लीनता द्वारा अपना विकास कर परमपद प्राप्त किया, वही विधि औरों को भी बताई है; इसलिए आप ही 'पुरुषोत्तम' है।

काव्य २६

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षिति-तलामल-भूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि शोषणाय॥२६॥

हिन्दी काव्य

नमों करूँ जिनेश तोहि आपदा निवार हो।
नमों करूँ सु भूरि भूमि-लोक के सिंगार हो॥
नमों करूँ भवाब्धि-नीर-राशि-शोष-हेतु हो।
नमों करूँ महेश तोहि मोखपंथ देतु हो॥२६॥

अन्वयार्थ – (नाथ !) हे नाथ ! **(त्रिभुवन अर्तिहराय)** तीनों लोकों की पीड़ा-व्यथा-वेदना-कष्ट को हरण करनेवाले **(तुभ्यं नमः)** आपके लिए नमस्कार हो **(क्षितितल अमल भूषणाय तुभ्यं नमः)** आप उर्ध्वलोक, मध्यलोक तथा अधोलोक के अमल-निर्मल-मनोज्ञ-पवित्र मंडन-अलंकार स्वरूप हो; अतएव आपके लिए बारम्बार नमस्कार है। **(त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमः)** आप त्रिभुवन के परमेश्वर हैं, जगदीश्वर हैं, प्रभु हैं; अतः आपके लिए बारम्बार नमस्कार है **(जिन ! भवोदधि-शोषणाय तुभ्यं नमः)** हे जिनेश्वर! आप भवरूपी समुद्र का शोषण करनेवाले हो; अतः आपके लिए बारम्बार नमस्कार है।

काव्य २६ पर प्रवचन

आचार्यश्री मानतुङ्ग मुनि पर उपसर्ग हुआ। उन्हें जेल में बन्द कर दिया। उन्हें स्तुति करने का भाव हुआ, क्योंकि उनके अंतरंग में भक्ति थी; पूर्व पुण्य के उदय से ताले खुल गये। इस घटना को निमित्त बनाकर अज्ञानी जीव लौकिक आशापूर्वक भक्तामर का पाठ करने लगे। वे धनादिक बाह्य अनुकूल इष्ट पदार्थों के संयोग या प्राप्ति की आशा से इस स्तोत्र को पढ़ते हैं। किन्तु धर्मात्मा ज्ञानी जीव के ऐसी आशा – इच्छा नहीं होती है।

ज्ञानी भक्ति करते हुए कहते हैं कि – हे नाथ ! आपके आत्मा में पूर्ण शक्ति थी, आपने उसे आत्मा के अवलम्बन से प्रकट किया इसलिए आप नाथ हैं। आपकी दिव्यध्वनि में यह प्रकट हुआ कि – "आप जो परमात्मा बने, बल्कि आपके वह बाहर के किसी कारण से नहीं बने, अन्तर में पूर्ण ज्ञानस्वभाव शक्तिरूप से विद्यमान है, वही एकाग्रता द्वारा व्यक्त दशा को प्राप्त हुई है। यदि भव्य जीव अपनी आत्मा का अवलम्बन कर ले तो वह आर्तध्यान का नाश कर सकता है।"

जिसे अन्तरंग में साध्य-साधक का भान हुआ, वह भक्त विनय से कहता है कि हे नाथ ! मेरी प्राप्त निर्मल दशा के आप रक्षक हैं, आप अप्राप्य निर्मल दशा को प्राप्त कराने में निमित्त हैं, इसलिए आप मेरे नाथ हैं। मेरे शान्त स्वरूप के प्रगट होने में आप ही निमित्त हैं, इस अपेक्षा से आप मेरा योगक्षेम करनेवाले हैं।

साधक जीव पूर्ण स्वभाव प्राप्त भगवान की स्वामी के रूप में वन्दना करता है। वह कहता है कि – पुण्य-पाप मेरे स्वामी नहीं हैं। मेरे स्वामी तो वीतराग स्वरूप को धारण करनेवाले हैं; मेरा स्वरूप पूर्ण है, स्वाधीन है – ऐसा ही आपने बताया है। आप ही तीनकाल के दुःख को दूर करने में निमित्त हैं। चैतन्य निर्मलानन्द स्वभाव के अवलम्बन से तीनलोक का दुःख दूर हो सकता है। प्रभुत्व-धन-संपदा आदि में दुःख है, शुभ-राग भी दुःख है; स्वर्ग के इन्द्र भी दुःखी हैं, नारकी जीव विपरीत पुरुषार्थ से दुःखी हैं, वस्तुतः वे सब संयोग से दुःखी नहीं हैं; अपितु वे संयोग में लीन होने के कारण दुःखी हैं।

संयोग में दुःख नहीं है, उसका अवलम्बन लेकर रति-अरति करना (अच्छा-बुरा मानना) दुःख है। चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से दुःख नष्ट होते हैं। हे नाथ ! मैं मोहक्षय में निमित्त एवं दुःख के नाशक होने से आपको मेरा स्वामी मानता हूँ, निमित्त मानता हूँ; मैं दोषयुक्त देव को नमस्कार नहीं करता, मैं पूर्णस्वभाव प्राप्त को ही नमस्कार करता हूँ। हे नाथ ! हे प्रभु ! आप सर्वज्ञ होने के कारण सकल पृथ्वी मण्डल के आभूषण हैं, आप तीनलोक के प्राणियों की विपत्ति के नाशक हो, आप संसाररूपी समुद्र को सुखा देने में सक्षम हैं; इसलिये नमस्कार हो। आपने हमें बताया है कि निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक अन्तरंग में लीनता से आत्मा चन्द्रमा की १६ कलाओं के समान विकसित हो जाता है।

आभूषणों, माणिक-मोतियों और स्वर्ण थालियों से जगत की शोभा नहीं है। निज चैतन्य भगवान द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त करने में ही चेतन और जगत की सच्ची शोभा है। हे प्रभो! अधोलोक, मध्यलोक एवं उर्ध्वलोक में आप ही सच्चे आभूषण हैं; क्योंकि आप केवलज्ञान को पाकर अनंत सुखी और जगतपूज्य हुए हो। जगत आप से ही सुशोभित होता है। जगत मात्र आत्मा की पूर्णशक्ति से सुशोभित होता है। जवाहरात, आभूषण, झालर आदि में शोभा नहीं है। स्त्रियों से भी घर की और जगत की शोभा नहीं है। पुराणों में भगवान नेमिनाथ का प्रसंग आया है कि नेमिनाथ जब विवाह के लिए जा रहे थे, तब वासुदेव, बलदेव आदि उनके साथ थे। इन्द्रों ने उन्हें दिव्य हार भेंट में दिये। उनके उससमय चारित्रदशा नहीं थी, किन्तु हरिण-बकरे आदि पशुओं की करुण चीत्कार सुनकर उन्होंने सारथी से चीत्कार का कारण पूछा, तब सारथी ने बताया कि "कपट-पूर्वक पशुओं को बंद किया गया है।" नेमिनाथ को तुरन्त भान हुआ कि ऐसे दुःखमय, कपटमय संसार एवं भोगों को धिक्कार है।

तीर्थंकर तो गृहस्थदशा में भी – आभूषण, वस्त्र, भोजन आदि के भोग में रुचि नहीं लेते हैं, किन्तु स्वर्ग के देव इन्हें भक्तिवश भेंट कर जाते हैं। उनके भी ऐसा असीम पुण्य होता है। इस कपटपूर्ण व्यवहार का ख्याल आते ही वे सारथी को रथ वापस करने को कहते हैं। तीर्थंकर के मन की विरक्तता की क्या बात करनी? वे निश्चय करते हैं कि मैं शीघ्र ही गृहवास छोड़कर भगवती जिनदीक्षा धारण करूँगा, वे उसी समय दिव्य नवीन रत्नहार, बाजूबंध आदि को उतार देते हैं, जिनकी चमक सूर्य, चन्द्र के प्रकाश से भी अधिक है। राजुलमती दूर से देखती है कि नेमिनाथ वापस जा रहे हैं। नेमिनाथ को अपने स्वरूप का भान था, उनके विशेष निर्मल दशा प्रकट होते ही लौकान्तिक देव आकर वैराग्यवर्धक वचन कहते हैं, इन्द्र पालकी से उन्हें जंगल में ले जाते हैं, वे नग्न दिगम्बर होकर केशलोंच करते हैं। इन्द्र भी उनके वैराग्य की प्रशंसा करते हैं – इसप्रकार स्त्री, आभूषण माणिक-मोती आदि भोग सामग्री – सभी वस्तुयें भगवान ने क्षण-भर में त्याग दीं, क्योंकि इनमें कोई शोभा नहीं है। एक केवलज्ञान ही शोभा की वस्तु है; जिसे पाने के लिए नेमिनाथ भगवान ने जिन दीक्षा ले ली।

भगवान का भक्त कहता है कि मुझे तीनलोक में आपके सिवाय अन्य कुछ शोभायमान नहीं दिखता। शुद्ध चैतन्य मूर्ति आत्मा के केवलज्ञान ही मात्र आभूषण हैं। मेरे नमस्कार की वृत्ति हो तो आपको (भगवान को) ही नमस्कार करूँ; किन्तु कुदेवादि का राग स्वप्न में भी नहीं आये। यदि थोड़ी कमजोरी से संसार संबंधी राग हो तो भी स्व को भूलकर राग की अधिकता नहीं हो। तीनलोक में पूर्ण ईश्वरपना मात्र आपके ही प्रगट है। केवलज्ञानी, तीनकालवर्ती, तीनलोक को जानते हैं; किन्तु उन्हें केवल जानना है, करना कुछ भी नहीं है – यही सर्वज्ञता है।

जो पर का कुछ करना चाहता है, वह सर्वज्ञ नहीं है। भक्त आपको परमेश्वर के रूप में नमस्कार करता है – "हे अविकारी-पूर्णानन्द प्रभु! आप संसाररूपी समुद्र को सुखाने वाले हैं। आपने पर्यायगत भ्रान्ति और रागद्वेष को निर्भ्रान्त स्वभाव के आश्रय से नाश किया है। इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूँ। जो राग से धर्म होना माने वह देव नहीं है। हे जिन! आपके संयोग एवं राग का आश्रय नहीं है, आपकी ईश्वरता उत्कृष्ट है इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपकी महिमा केवलज्ञान से है, आपको मान्यता-महत्ता देने वाला राग को मान्यता-महत्ता नहीं देता। आपने शुद्ध स्वभाव को प्रकट किया है, आपके कुछ भी बाकी नहीं है। मैं अपना संसार समुद्र सुखाने में आपको कारण मानता हूँ, इसलिए आपको नमस्कार करता हूँ।

सोने की थाली .....

जैसे थाली चाहे सोने की हो, परन्तु यदि उसमें जहर भरा हो तो वह नहीं शोभता और खानेवाला भी मरता है; उसीप्रकार कोई जीव चाहे पुण्य के ठाठ के मध्य में पड़ा हो, परन्तु यदि वह मिथ्यात्व रूपी जहर सहित है तो वह नहीं शोभता, वह संसार में भावमरण कर रहा है। और जिसप्रकार थाली चाहे लोहे की हो, परन्तु उसमें अमृत भरा हो तो वह शोभा पाती है और खानेवाले को भी तृप्ति देती है; उसीप्रकार चाहे प्रतिकूलता के समूह में पड़ा हो, परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शन रूपी अमृत से भरा हुआ है, वह शोभता है, वह आत्मा के परम सुख को अनुभवता है और अमृत जैसे सिद्धपद को भी प्राप्त करता है।

– **आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी :** श्रावक धर्मप्रकाश, पृष्ठ १६

काव्य २७

कों विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्तविविधाश्रय-जात-गर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि॥२७॥

हिन्दी काव्य

तुम जिन पूरन गुन-गन भरे, दोष गर्वकरि तुम परिहरे।
और देव-गण आश्रय पाय, स्वप्न न देखे तुम फिर आय॥२७॥

अन्वयार्थ – (मुनीश !) हे मुनीश्वर ! **(यदि नाम)** हमें ऐसा लगता है कि **(निरवकाशतया)** अन्यत्र आश्रय न पा सकने से **(अशेषैः गुणैः त्वं संश्रिता)** सभी गुणों ने आपका ही आश्रय ले लिया है तथा **(उपात्तविविधाश्रय-जात-गर्वैः दोषैः)** अनेक स्थानों पर आश्रय मिल जाने से जिन्हें घमण्ड हो गया है ऐसे दोष **(कदाचित् अपि)** कदाचित् **(स्वप्नान्तरे अपि)** स्वप्नावास्था में भी आपके पास **(न ईक्षितः असि)** दिखाई नहीं दें तो **(अत्र कः विस्मयः)** इसमें क्या आश्चर्य? अर्थात् इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ-वीतरागता जैसे समस्त गुणों को रागी देवताओं के पास स्थान नहीं मिला; अतः वे आपको छोड़कर कहाँ जाते तथा काम, क्रोध, मोहादि दोषों को जब आदरपूर्वक अपनानेवाले अन्य देवगण मौजूद हैं तो वे अनादर और उपेक्षा के पात्र बनने के लिए आप जैसे वीतरागी के पास आते ही क्यों? इसीलिए मानो संपूर्ण गुणों ने तो आपका ही आश्रय लिया और दोष एक भी आपके पास नहीं आया।

काव्य २७ पर प्रवचन

हे गुणनिधान ! समस्त विश्व के समस्त उत्तम गुणों ने आपमें इसप्रकार निवास किया है कि अन्य के लिए अब कोई स्थान बाकी नहीं रहा। इसी तथ्य का विचार कर कोई भी दोष आपकी तरफ नहीं देखते हैं, तो वे दोष उपेक्षित हो हमारे वीतरागी जिनवर देव के पास कैसे आयें? इसप्रकार हे नाथ ! आपमें सम्पूर्ण गुणों का खजाना है और दोषों का नाम-निशान नहीं है। हे नाथ ! आप

केवलज्ञानी हैं; इसलिए आप हमारे नाथ हैं, अन्य कुदेवादि में हमारी रुचि नहीं है। आपमें अनन्त गुणों (शक्ति) का पूर्ण विकास हो गया है, उन गुणों का अंशमात्र भी कुदेव-कुगुरु में नहीं है; क्योंकि उनमें दोष विद्यमान है, इसलिए दोषों को आपके पास आने का अवकाश ही नहीं है।

अज्ञान जन्य जितने भी राग-द्वेष-मोह रूप दोष हैं, उन्हें सब अन्य देवताओं व अनन्त आत्माओं में आश्रय प्राप्त हैं, इसलिए दोषों को अभिमान है। अतः दोषधारी अभव्य तुल्य मिथ्यादृष्टि जीवों को आपकी (जिनदेव की) दरकार नहीं है। जो कुदेव और सुदेव का अंतर जानकर आत्मा का पूर्ण विकास करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता है; इसलिये आप में किसी भी दोष की स्थिति नहीं है। वैसे दोषों के आधार बहुत से हैं। पराश्रय से, राग से, निमित्त से कल्याण माननेवाले बहुत जीव हैं। वे सदोष जीव आपका आदर नहीं करते हैं। जो यह मानता है कि पर कुछ कर सकता है, वह न आपकी वाणी समझता है और न आपको पहचानता ही है।

जो आत्मा की परमानन्द दशा के व्यक्त हो सकने की शक्ति को जानता है, वह अन्तर में शक्ति रूप पूर्ण स्वभाव का अवलंबन लेकर निश्चय भगवान को अन्तर में देखता है। वह भव्यजीव ही भगवान को निमित्त रूप में देखता है। आत्मा ज्ञाता स्वरूप ही है, वह पर का कुछ कर नहीं सकता। अर्न्तमुखी वृत्ति से ही कल्याण हो – ऐसा वस्तुस्वभावरूप धर्म जिसे रुचिकर नहीं है, समस्त दोष उसके पास पहुँच जाते हैं। आप सर्वप्रकार से निर्दोष हैं, इसलिए आपकी वाणी भी पूर्णतः निर्दोष है।

अहो ! पराश्रित बुद्धिवाला भक्त संयोग एवं पुण्य से कल्याण मानता है – ऐसा दोष जिनेन्द्र के भक्त में नहीं होता। भगवान दुनियाँ को दुःखी देखकर अवतार नहीं लेते। तीर्थंकर भगवान के समवशरण में आठ प्रातिहार्य हैं, धर्म वैभव की सूचक आठ प्रकार की सामग्री होती है। आप गुणों में पूर्ण हो, ऐसा पुण्य अन्य किसी संसारी के नहीं होता। इस आत्मा का सम-स्वभावी चैतन्य सूर्य पूर्ण विकसित रूप में प्रकट हो, तब अन्तरंग पवित्रता की विभूति पूर्ण प्रकाशित होती है और बाह्य में आठ प्रकार की विभूति होती है; किन्तु वे उनसे पर का कुछ नहीं करते।

काव्य २८

उच्चैरशोक-तरु-संश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त-तमो-वितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति॥२८॥

हिन्दी काव्य

तरु अशोक-तर किरन उदार, तुम तन शोभित है अविकार।
मेघ निकट ज्यों तेज फुरंत, दिनकर दिपै तिमिर निहनंत॥२८॥

अन्वयार्थ – (उच्चैः अशोकतरुः संश्रितम्) अति उन्नत खूब ऊँचे अशोक वृक्ष के आश्रय में विराजमान **(उन्मयूखम्)** ऊपर की ओर अपनी किरणों को बिखेरता हुआ **भवतः अमलं-रूपम्)** आपका उज्ज्वल रूप **(स्पष्ट उल्लसत् किरणम्)** स्पष्ट रूप से ऊपर की ओर चमकती-दमकती हुई दीप्तमान किरणोंवाला है, **(अस्त तमो-वितानम्)** तथा समस्त अन्धकार समूह को अस्त करनेवाला है। **(पयोधर पार्श्ववर्ति रवेः विम्बं इव)** एवं सघन बादलों के समीप रहनेवाले सूर्यबिम्ब के समान **(नितान्तम् आभाति)** अत्यधिक शोभायमान होता है।

(इस काव्य में अशोकवृक्ष के तल में स्थित तीर्थंकर भगवान के प्रथम प्रातिहार्य का वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है।)

काव्य २८ पर प्रवचन

हे निर्मल अतिशयरूप प्रभो ! ऊँचे और हरे अशोक वृक्ष के नीचे आपका सम्पूर्ण उज्ज्वल रूप ऐसा सुन्दर दिखता है – मानो काले-काले मेघों के नीचे पीतवर्ण सूर्यमण्डल ही हो तथा सूर्यमण्डल की तरह ही आप जगत के अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करते हैं। धर्मी जीवों को आत्मा का भान है। आत्मा ज्ञानादि अनंत शक्तियों का धाम है। आपने उस ज्ञान-कोष को खोलने की चाबी सबको बता दी है, कुछ भी छिपाकर नहीं रखा। आपने बताया कि प्रत्येक आत्मा शक्ति रूप से परमात्मा है। आपने आत्मा को जानकर उसके द्रव्य स्वभाव की रुचि एवं लीनता रूप मोक्ष-मार्ग बताकर भव्यजीवों को कृतार्थ कर दिया तो फिर पुण्य से धर्म होने की बात कौन करे? केवलज्ञानी भगवान के

समवशरण में अशोक वृक्ष है, वह भगवान के शरीर से १२ गुना अधिक ऊँचा होता है, उसके नीचे भगवान होते हैं। तीर्थंकर भगवान किसी के घर में, दुकान में या यक्ष मन्दिर में नहीं रहते। केवलज्ञानी का शरीर स्फटिक जैसा परम औदारिक शरीर हो जाता है। समवशरण में जाकर उनके शरीर को देखनेवाले को सात भव का ज्ञान हो जाता है। इसप्रकार हे मुनिनाथ! आप बाह्य एवं अभ्यन्तर शोभा में उत्कृष्ट हैं।

हे भगवन् ! आप समवशरण में अशोकवृक्ष के नीचे स्वर्णिम सिंहासन पर चार अंगुल ऊँचे बिना किसी आधार विराजते हैं। आपके शरीर की दिव्य उज्ज्वलता सूर्य के समान सुशोभित होती है, आपका रूप अतुलनीय है।

जैसे सूर्य काले बादलों में सुशोभित होता है, वैसे आप सुशोभित होते हैं। वर्तमान में समवशरण देखने का योग नहीं है। पुण्यशाली ही समवशरण का दर्शन करते हैं। सुगन्धित पदार्थ और कस्तूरी बोरी में नहीं रखी जाती, सुन्दर एवं मजबूत बक्सों में ही रखी जाती है; उसीप्रकार आपके परमात्म-शक्ति पूर्ण प्रकट होने से आपका पुण्य भी उच्चकोटि का होता है, तत्परिणाम स्वरूप आपका शरीर भी सुन्दर एवं मजबूत होता है। केवलज्ञान प्रकट हो जाने के बाद आपका शरीर जमीन से पाँच हजार धनुष ऊँचा अशोक वृक्ष के नीचे होता है। केवलज्ञानी पृथ्वी पर नहीं चलता। जो उन्हें पृथ्वी पर चलनेवाला माने, उसे १३वें गुणस्थान के निश्चय-व्यवहार की स्थिति का ज्ञान नहीं है।

भगवान हाथी, घोड़ा, पालकी आदि वाहनों पर नहीं बैठते। श्री मानतुङ्ग आचार्य कहते हैं कि हे नाथ! आप अशोक वृक्ष के नीचे सुशोभित होते हैं। जीवनमुक्त भगवान बाह्य और अन्तर की शोभा में कैसे उत्कृष्ट होते हैं, इसका वर्णन किया जा रहा है। इस उत्कृष्ट पवित्रता एवं पुण्य में न्यूनतावाला व्यक्ति तीर्थंकर नहीं कहलाता।

इसप्रकार अशोक वृक्ष के बहाने तीर्थंकर भगवान की महिमा का वर्णन किया गया है। आचार्य देव ऐसे भगवान के स्वरूप को जाननेवालों को आत्मा की प्रभुता का परिज्ञान कराते हैं कि हे भाई! चैतन्य प्रभु की समस्त शक्ति की पूर्णता और पुण्य की योग्यता निराली जाति की है, इसलिए परमात्मा का आदर करो।

काव्य २९

सिंहासने मणि-मयूख-शिखा-विचित्रे
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलता-वितानं
तुङ्गोदयाद्रि शिरसीव सहस्र-रश्मेः ॥२९॥

हिन्दी काव्य

सिंहासन मनि-किरन-विचित्र, तापर कंचन-वरन पवित्र।
तुम तन शोभित किरन-विथार, ज्यों उदयाचल रवि तमहार॥२९॥

अन्वयार्थ – (मणि मयूख शिखा विचित्रे सिंहासने) मणियों की किरणों के अग्रभाग से विविध रंगवाले – चित्र-विचित्र सिंहासन पर **(कनक अवदातम्)** स्वर्ण जैसा सुन्दर **(तव वपुः)** आपकी दिव्य देह या सुन्दर शरीर **(तुङ्ग उदयाद्रि शिरसि)** उन्नत उदयाचल के शिखर पर **(वियत् विलसत् अंशु लता-वितानम्)** जिसकी किरणों का वल्लरि-विस्तार आकाश में शोभायमान हो रहा है – ऐसे **(सहस्र-रश्मेः)** सूर्य के **(बिम्बं इव विभ्राजते)** बिम्ब के समान सुशोभित हो रहा है।

[इस काव्य में द्वितीय प्रातिहार्य (सिंहासन) का वर्णन है।]

काव्य २९ पर प्रवचन

अब सिंहासन की शोभा बताते हैं। समवशरण में रत्नमय सिंहासन पर कमल की आकृति रहती है और तीर्थंकर भगवान उस कमल से भी चार अंगुल निराधार विराजमान होते हैं। उनके लिए जमीन या साधारण पाट पर बैठने की किंवदन्ती प्रामाणिक नहीं है। सामान्य केवली भी जमीन पर नहीं बैठते हैं। श्वेताम्बर शास्त्रों में कथन आता है कि जब केवलज्ञानी मोक्ष में जाने की तैयारी में हों – तब वे संघ को पाट आदि वापस सौंपते हैं, किन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। पुण्यहीन को सामग्री जुटानी पड़ती है। भगवान पुण्यहीन नहीं हैं। भगवान के पुण्ययोग से सिंहासनादि सहज सुलभ होते हैं। जैसे – जब अनाज की फसल अच्छी हो, तब डंठल भी ऊँची जाति का होता है। जिस अनाज में उच्चकोटि

का रस हो, तब डंठल में भी वैसा ही रस होता है; वैसे ही जब आत्मा की पूर्ण पवित्रता प्रकट होती है, तब पूर्वकालीन पुण्योदय से उनका शरीर और सिंहासन आदि भी भिन्न जाति के होते हैं।

जब पवित्रता प्रकट होती है – तब पुण्य कैसा होता है? यह वर्णन वीतराग की महिमा बताने के लिए किया गया है। इसके आगे की बात यह है कि जो तत्त्वदृष्टिपूर्वक आपको भजता है, वह आप जैसा हो जाता है।

पारसमणि और संत में, बड़ो आंतरो जान।
एक लोहा कंचन करे, दूजो करे आप समान॥

जिस लोहे में जंग लगी हुई हो, वह लोहा पारस के स्पर्श से सोना नहीं बनाया जा सकता; किन्तु आपके निमित्त से हम रागी-द्वेषी भी आपके समान हो ही जायेंगे। यह निसंदेह पूर्ण सत्य है।

'णमो अरहंताणं' पद में तीर्थंकर मुख्य है। जैसे – सूर्य पर्वत पर सुशोभित होता है, वैसे ही आप सिंहासन पर सुशोभित होते हैं। व्यवहार में भगवान निमित्त रूप से कैसे होते हैं? यह प्रसंग चल रहा है। भगवान के रोग या उपसर्ग नहीं होते। जिसे दवा लेनी पड़े या आहार-पानी लेना पड़े, वह भगवान नहीं है।

चौंसठ युगलदेव भगवान को चँवर ढोरते हैं, यह सब तीर्थंकर के पूर्वकृत पुण्य परिणाम का फल है। भगवान के अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है, वे उस अतीन्द्रिय आनन्द का परिपूर्ण अनुभव करते हैं।

आपके लेशमात्र भी इच्छा, राग-द्वेष नहीं हैं। आप जहाँ विराजते हैं, वहाँ देव चँवर ढोरते हैं। आत्मा की अमूल्य सम्पदा की तुलना में इस बाह्य सम्पदा की कोई कीमत नहीं है। अज्ञानी को पवित्रता एवं पुण्य का भान नहीं है, वह तो केवल पुण्य की ही प्रशंसा करता है।

बेला के पुष्प बहुत उज्ज्वल होते हैं, किन्तु आपके चँवर उनसे भी अधिक सफेद होते हैं। तीर्थंकर भगवान का परिचय कराने के लिए व्यवहार में यह सब कुछ बताया जाता है; परन्तु सर्वज्ञ वीतरागदेव का यथार्थ स्वरूप जाने बिना आत्मा नहीं जाना जा सकता। जो आत्मा को जाने, वह सच्चे देव को जानता है। सम्यग्दृष्टि का शुभराग भी पुण्य है – धर्म नहीं है। भगवान अविकारी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव कर रहे हैं – ऐसे परमात्मा का यहाँ वर्णन किया जाता है।

कोई कोहिनूर हीरा देखने गया, उसने उसकी महिमा का बखान करनेवाले से पूछा – "हीरा की कीमत अधिक या नेत्र की?" जैसे नेत्रहीन को हीरा की कीमत समझ में नहीं आती, वैसे ही सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र बिना सर्वज्ञ की वाणी बोधगम्य नहीं होती। एक अन्धे को दूध पीने के लिए कहा, उसने पूछा कि दूध कैसा होता है? उसने रंग में उत्तर दिया कि बगुले जैसा। उसने फिर प्रश्न किया कि बगुला कैसा होता है? उसने इस प्रश्न का उत्तर आकृति में देते हुए हाथ की टेढ़ी आकृति बनाकर बताई। तब अंधे आदमी ने कहा – "भाई साहब! ऐसे बगुले जैसा दूध तो मेरे गले में नहीं उतरेगा, किन्तु अन्धा इस तथ्य को नहीं जानता है कि जो आकार है, वह रंग नहीं है। उसीप्रकार जो सर्वज्ञ वीतराग के पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता, वह तीर्थंकर के पुण्य को भी नहीं जान सकता; इसलिए वह अन्धे मनुष्य की तरह है।

लोगों ने आत्मा और पवित्रता की बात ही नहीं सुनी है। भगवान के उत्कृष्ट पुण्य में आत्मा की पवित्रता निमित्त होती है। हे नाथ! आपका शरीर सुन्दर होता है। जब उनके चँवर किये जाते हैं, तब ऐसा लगता है कि मानो पर्वत में से उज्ज्वल जल की धारा बहती हो। मानस्तम्भ पर २५० मन का पत्थर चढ़ाने का विश्वास साधारण आदमी नहीं कर पाता। जहाँ पवित्रता और पुण्य की पूर्णता हो, वहाँ कुछ भी आश्चर्यकारी नहीं है। अज्ञानी को इसमें आश्चर्य होता है। देवता चँवर ढुराते हैं, यह पुण्य का वर्णन है। इस वर्णन से उनकी पवित्रता कैसी थी, इसका भान होता है। धर्मी कहता है कि मुझे निमित्त-राग-द्वेष का माहात्म्य नहीं है; किन्तु निर्मल स्वभाव का माहात्म्य है। इसप्रकार भगवान की स्तुति में निश्चय से अपने आत्मा की स्तुति है।

बहुगुण विज्जाणिलयो, उस्सूत्तभासी तहा विमुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो विहुवि, विग्घयरी विसधरो लोये॥

जिनवाणी से विरुद्ध (उल्लंघन करके) उपदेश देनेवाला पुरुष भले ही क्षमादिक बहुत से गुणों और व्याकरणादि अनेक विद्याओं का स्थान हो, तो भी वह उसीप्रकार त्याग देने योग्य है – जिसप्रकार लोक में श्रेष्ठ मणि सहित भी विषधर सर्प विघ्नकारी होने से त्याज्य ही होता है।

– उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, श्लोक १८

काव्य ३०

कुन्दावदात-चल-चामर-चारु-शोभं
विभ्राजते तव वपुः कलधौत-कान्तम्।
उद्यच्छशांक-शुचिनिर्झर-वारि-धार
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम्॥३०॥

हिन्दी काव्य

कुन्द-पुहुप-सित-चमर ढुरंत, कनक-वरन तुम तन शोभंत।
ज्यों सुमेरु-तट निर्मल कांति, झरना झरै नीर उमगांति॥३०॥

अन्वयार्थ – (कुन्द अवदात-चलचामर-चारु-शोभम्) कुन्द नामक सुमन के समान शुभ धवल, ढुरते हुए चँवरों से वृद्धिंगत हुई है शोभा जिसकी तथा **(कलधौत-कान्तम्)** स्वर्ण के समान है कान्ति जिसकी – ऐसा आपका शरीर **(उद्यत् शशाङ्कशुचिनिर्झर-वारि-धारम्)** उदीयमान चन्द्रमा के समान-धवल-उज्ज्वल-श्वेत-शुभ्र जलप्रपात की धारा जहाँ गिर रही है – ऐसे निर्झर युक्त **(सुरगिरेः)** सुमेरुपर्वत के **(शातकौम्भम्)** स्वर्णिम **(उच्चैः तटम् इव विभ्राजते)** उन्नत तटों के समान शोभा देता है।

अर्थात् समवशरण में यक्षेन्द्रों द्वारा जब एक साथ चौसठ चँवर आपके ऊपर ढोरे जाते हैं, तब उनकी उज्ज्वल कान्ति से आपके सौम्य सुन्दर शरीर की शोभा और भी अधिक बढ़ जाती है।

स्वर्णिम कान्ति युक्त आपकी दिव्य देह कुन्दपुष्प के समान धवल और चलायमान-ढुरते हुए चँवरों के बीच में ऐसी लगती है कि जैसे सुमेरु पर्वत के उन्नत तट पर गिरता हुआ झरना हो। उस झरने की निर्मल धारा उगते हुए चन्द्रमा के समान शुभ्र है।

काव्य ३० पर प्रवचन

आदीश्वर भगवान वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। इस काव्य में उनके सुन्दर शरीर का वर्णन अलंकारिक शैली में किया है। यद्यपि तीर्थंकर का शरीर अति सुन्दर होता है, किन्तु आत्मा की पवित्रता के आगे यह सुन्दरता भी सामान्य है। आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वभावी है, ऐसी श्रद्धा हो जाने पर शुभराग से ऐसे

पुण्य का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप उसका जन्म शुभ क्षेत्र में होता है। साधारण जीव को ऐसा पुण्य नहीं होता है। जो वर्तमान में इस क्षेत्र में जन्म लेते हैं, वे पूर्व में आत्मा के विराधक जीव होते हैं। यहाँ वर्तमान में मनुष्य होनेवाला जीव पूर्वभव में नियम से मिथ्यादृष्टि था, जिसके सम्यग्दर्शन होने पर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है, उसके पुण्य का अनुभाग विशिष्ट प्रकार का हो जाता है और पाप का अनुभाग और स्थिति कम होते जाते हैं, पुण्य की स्थिति भी कम हो जाती है; किन्तु उसका अनुभाग बढ़ता जाता है।

यदि तीर्थंकर भगवान की वाणी में किसी के लिए अल्पकाल में मुक्ति जाने का कथन आये तो यह उस प्राणी का अद्वितीय सम्मान है, जो तीनलोक के अन्य सभी सम्मानों से श्रेष्ठ है; किन्तु यदि उनकी वाणी में किसी के लिए अभव्य होने का कथन हो तो उससे बढ़कर कोई अन्य अपमान नहीं है। लौकिक में मान मिले या न मिले, उसके आधार पर किसी का मूल्यांकन नहीं है।

जिसके अन्तरंग में चैतन्य स्वभाव का भान होता है, वह अंतरंग में अभिमान रहित होता है और उसके सच्चे देवादि के प्रति विनयभक्ति आदि का राग रहता है, उसके फल में अचिन्त्य पुण्य का बन्ध होता है। जो तत्त्वज्ञानपूर्वक मान छोड़ता है, उसको उत्कृष्ट सम्मान मिलता है। तीर्थंकर का वास्तविक वर्णन ऐसा ही होता है, इसलिए उनकी पहचान करनी हो तो उन्हें पवित्र भाव से देखो, तभी सच्चे देव की पहचान हो सकती है। अपनी कल्पना से उनकी यथार्थ पहचान नहीं होती।

प्रमादी होना योग्य नहीं

गिहि वावार विमुक्को, बहु मुणि लोए वि णत्थि सम्मत्तं।
आलंवण णिलयाणं, सद्धाणं भाय किं भणियो।।

कई अज्ञानी जीव अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर अभिमान करते हैं, उनसे आचार्य कहते हैं – हे भाई! पंच महाव्रत के धारी मुनि भी आपा-पर को जाने बिना द्रव्यलिंगी ही रहते हैं तो फिर गृहस्थों की तो बात ही क्या कहें? इसलिए जिनवाणी के अनुसार तत्त्व-विचार में उद्यमी रहना योग्य है। थोड़ा-सा ज्ञान करके अपने को सम्यक्त्वी मानकर प्रमादी होना योग्य नहीं।

– उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, श्लोक ६४

काव्य ३१

छत्र-त्रयं तव विभाति शशाङ्क-कान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगित-भानु-कर-प्रतापम्।
मुक्ता-फल-प्रकर-जाल-विवृद्ध-शोभं
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्॥३१॥

हिन्दी काव्य

ऊँचे रहैं सूर दुति लोप, तीन छत्र तुम दिपैं अगोप।
तीन लोक की प्रभुता कहैं, मोती-झालरसौं छबि लहैं॥३१॥

अन्वयार्थ – (शशाङ्क कान्तम्) चन्द्रमा के समान सुन्दर कान्ति यु **(मुक्ताफल-प्रकर-जालविवृद्ध-शोभम्)** मणि-मुक्ताओं की झालरों से ब गई है शोभा जिनकी – ऐसे आपके मस्तक पर लगे हुए – लटके हुए तीनों छ सुशोभित हो रहे हैं तथा **(स्थगित-भानुकरप्रतापम्)** सूर्य की किरणों आतप (प्रभाव) को रोकते हुए वे मानो **(त्रिजगतः)** तीनों लोकों **(परमेश्वरत्वम्)** परमेश्वरपने को या प्रभुता को **(प्रख्यापयत्)** प्रगट करते **(विभाति)** सुशोभित हो रहे हैं।

काव्य ३१ पर प्रवचन

भगवान के ऊपर रत्नजड़ित तीन छत्र होते हैं, उनका पुण्य सब प्रकार उत्तम है। उनके शरीर में पुण्य प्रकृति कैसी होती है, यह बताते हैं।

जो तीर्थंकर भगवान को राग होना, उपसर्ग होना, दवा, आहार आदि ग्र करना माने, वह अरहंतदशा में होनेवाले पुण्योदय को नहीं जानता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पक्षवालों को सर्वज्ञ भगवान के स्वरूप का नहीं है। तीर्थंकर भगवान के प्रतिकूलता या रोग का संयोग नहीं होता जैसे – छतरी सूर्य-किरणों के संताप से बचाती है, वैसे ही आपके तीन भव्यजनों को संसार के आताप से बचाने में निमित्त हैं। पुण्य का वर्णन पुण्

महिमा बताने के लिए या पुण्य हितकारी है – ऐसा बताने के लिए नहीं किया जाता; किन्तु जगत पूज्य त्रिकालवेत्ता-सर्वज्ञ के तीर्थंकरत्व का भान कराने के लिए किया जाता है। तीर्थंकर के तीन छत्र उनके तीन जगत का परमेश्वरपना बता रहे हैं। साधारण मनुष्य छत्र को हाथ से पकड़कर चलता है, किन्तु आपको ऐसा नहीं करना पड़ता है, आपके स्वाभाविक पुण्य योग से छत्र निरालम्बी होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्वी इन्द्र भी आपकी वन्दना करते हैं। भगवान् ! तीन छत्र आपसे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, मानो आप ही तीन लोक के स्वामी हैं। इसप्रकार आठ प्रतिहार्यों में से चौथे प्रातिहार्य 'तीन छत्र' का वर्णन किया।

हे नाथ! आपकी वाणी बहुत गम्भीर है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराने में एक मात्र सद्निमित्त है, आनन्ददायक है। अतएव देवगण हर्षविभोर होकर आपकी वाणी सबको सुनाने के लिए ही मानो दुंदुभि बाजे बजा-बजाकर आमंत्रण दे रहे हैं।

महामुनि की रीति : लौकिक-रीति से विरुद्ध

- लोक पाप क्रियाओं में आसक्त होकर प्रवर्तन करता है, मुनि पाप क्रिया का चिंतवन भी नहीं करते।
- लोक अनेक प्रकार से शरीर की सँभाल और पोषण करता है, परन्तु मुनिराज अनेक प्रकार से शरीर को परीषह उत्पन्न करके उन्हें सहन करते हैं।
- लोक को इन्द्रिय-विषय अत्यन्त मिष्ट लगते हैं, जबकि मुनिराज विषयों को हलाहल विष समान जानते हैं।
- लोक को अपने पास जन-समुदाय रुचिकर लगता है, मुनिराज दूसरों का संयोग होने पर खेद मानते हैं।
- लोक को बस्ती सुहावनी लगती है, किन्तु मुनि को निर्जन स्थान ही प्रिय लगता है। कहाँ तक कहें? महामुनि की रीति लौकिक-रीति से विरुद्ध होती है।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : पृष्ठ २२

काव्य ३२

गम्भीर-तार-रव-पूरित-दिग्विभाग-
स्त्रैलोक्य-लोक-शुभ-संगम-भूति-दक्षः।
सद्धर्मराज-जय-घोषण-घोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

हिन्दी काव्य

दुन्दुभि-शब्द गहर गम्भीर, चहुँ दिशि होय तुम्हारे धीर।
त्रिभुवन-जन शिवसंगम करैं, मानूँ जय-जय रव उच्चरै॥३२॥

अन्वयार्थ – हे भगवान् ! **(गम्भीर-तार-रवपूरित-दिग्विभागः)** अपनी गम्भीर-स्पष्ट और मधुर ध्वनि से दिग्मण्डल को गुँजाता हुआ **(त्रैलोक्य लोक शुभसङ्गम भूति-दक्ष)** तीनों लोकों के प्राणियों को सत्समागम का वैभव प्राप्त कराने की घोषणा करता हुआ **(सद्धर्मराज-जय-घोषणघोषकः सन्)** समीचीन जिनधर्म एवं उसके प्रणेता तीर्थंकर देवों की जय-जयकार करता हुआ **(दुन्दुभिः)** नगाड़ा **(ते)** आपके **(यशसः)** यश का **(प्रवादी)** विशदकथन करता हुआ **(खे)** गगन में **(ध्वनति)** गूँज रहा है।

काव्य ३२ पर प्रवचन

अब देव-दुन्दुभि का वर्णन करते हैं। जैसे – शादी के समय बाजे बजाते हैं और कहते हैं कि यह नया प्रसंग है, इसलिए उत्सव मनाना है; वैसे ही देव भगवान के समवशरण में दिव्य दुन्दुभि बजाते हैं और कहते हैं कि हे जीवों ! यदि सत्समागम करना चाहते हो तो यहाँ आओ। आत्मा की ऋद्धि देखनी हो तो यहाँ आओ।

जैसे पहले सभा इकट्ठी करने के लिए थाली बजाकर घोषणा की जाती थी; वैसे ही देव नगाड़े बजाते हैं। उनकी आवाज दशों दिशाओं में गूँजती है। भगवान की दिव्यध्वनि जीवों को सुख-सम्पत्ति प्राप्त कराने में समर्थ है। ऐसा समागम अनन्त काल में मिला है। लाख काम छोड़कर इस वाणी को सुनने को आओ ऐसा निमंत्रण इस देव-दुन्दुभि द्वारा दिया जाता है। जैसे – विवाह की

निमंत्रण पत्रिका में लिखा जाता है कि घर का काम छोड़कर पधारें, विवाह की शोभा बढ़ावें; वैसे ही भगवान के समवशरण में श्री मण्डप होता है, उसमें बारह सभायें होती हैं, अन्तरंग स्वरूप लक्ष्मी कैसी है – यह जानना, सुनना हो तो मण्डप में (समवशरण में) पधारें। तीन लोक के देव एवं मनुष्य भी वहाँ आवें तो जगह की कमी न हो – ऐसी उनकी पुण्य प्रकृति है। हे नाथ ! आप ही सच्चे जैनधर्म की घोषणा करनेवाले हैं। आप ही घोषणा करते हैं कि आत्मधर्म, पुण्यरहित, संयोगरहित है और प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञत्व-शक्ति है। इस पुण्य-पापरहित, संयोगरहित ज्ञान-स्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है – 'ऐसी देशना समवशरण में होती है कि जो देह की क्रिया से या पुण्य से धर्म होना मानता है वह भगवान को नहीं समझता है।

दुन्दुभि सबको निमंत्रण देती है कि भगवान की देशना सुनने के लिए पधारें। भगवान वाणी के कर्त्ता नहीं हैं, उनके उपदेश करने की इच्छा भी नहीं है, उनके वाणी सहज ही प्रकट होती है। जैसा उनका वीतराग पद है, वैसी ही उनकी वाणी होती है। उसके अवलम्बन से शान्ति मिलती है, इसलिए उसे सुनने के लिए समवशरण में आवें। जैसे – संसार में दश वर्ष काम करनेवाले का सम्मान समारोह करते हैं, वैसे ही भगवान की प्रभुता – कीर्ति बताने के लिए दुन्दुभि प्रकट होती है। जिसके ऐसी पुण्य-प्रकृति का उदय हो, उसके आहार-पानी की आवश्यकता नहीं होती है। केवलज्ञान के पूर्व तक आहार होता है और मल-मूत्रादि नहीं होते; किन्तु

केवलज्ञान हो जाने के बाद अरहंत को कवलाहार भी नहीं होता एवं भगवान के रक्तातिसार ज्वर हो एवं दवा लेनी पड़े – ऐसा भी नहीं होता है। जब स्वर्ग के देवों के ही रोग नहीं होता तो वीतरागी देव के रोग होने का तो प्रश्न ही कहाँ? इसी प्रकार देवों के रोटी, दाल, भात आदि का आहार नहीं होता, तब वीतरागी भगवान के आहार की बात कैसे हो सकती है? स्वर्ग के देवादि जिस पूर्ण वीतराग प्रभु का गुणगान करते हैं, उस प्रभु के आहार, रोग, उपसर्ग आदि अठारह दोष नहीं होते हैं।

मिथ्यात्वरूपी महारोग

जैन वचन अंजनवटी, आँजै सुगुरु प्रवीन।
रागतिमिर तऊ ना मिटै, बड़ो रोग लखि लीन॥

– कविवर भूधरदास : जैन शतक, छन्द ३६

काव्य ३३

मन्दार-सुन्दर-नमेरु-सुपारिजात-
सन्तानकादि-कुसुमोत्कर-वृष्टिरुद्धा।
गन्धोद-बिन्दु-शुभ-मन्द-मरुत्प्रयाता
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ।।३३।।

हिन्दी काव्य

मन्द पवन गन्धोदक इष्ट, विविध कल्पतरु पुहप सुवृष्ट।
देव करैं विकसित दल सार, मानौं द्विज-पंकति अवतार।।३३।।

अन्वयार्थ – [हे नाथ!] (गन्धोद-बिन्दु-शुभ-मन्द-मरुत्प्रयाता) सुगन्धित जलकणों से सहित सुखद-मांगलीक मन्द-मन्द समीर, धीमी-धीमी पवन के झोंकों के साथ गिरनेवाली **(उद्धा दिव्या)** ऊर्द्धमुखी-उत्कृष्ट, मनोहर देवोपनीत-स्वर्गीय, **(मन्दार-सुन्दर-नमेरु-सुपरिजात-सन्तानकादि)** मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात तथा सन्तानक आदि वृक्षों के **(कुसुमोत्कर)** सुमनों की **(वृष्टिः)** वर्षा **(दिवः पतति)** आकाश से गिरती है। **(वा)** तथा **(ते वचसां ततिः पतति)** आपके वचनों की पंक्ति अर्थात् दिव्यध्वनि खिरती है।

काव्य ३३ पर प्रवचन

हे नाथ ! पुष्पवृष्टि और सुगन्धित जलवर्षा बाह्य और अभ्यंतर प्रसन्नता की द्योतक है। जैसे लोक में साधारण जन के स्वागत में फूल बिखेरे जाते हैं, उसीप्रकार भगवान के समवशरण में दिव्यपुष्पों की वृष्टि होती है। सुगंधित जल-बिन्दु और मंद-मंद हवा के साथ फूल गिरते हैं, किन्तु इससे भगवान को कुछ प्रयोजन नहीं है। यह सब तो देवता अपनी भक्तिवश करते हैं। सन्तों के हृदय में भी आत्मा का आनन्द हिलोरें लेता है और तीर्थंकर भगवान तो साक्षात् पूर्ण परमानन्द रूप हैं। उनके समवशरण में जो दिव्य फूल बरसते हैं, उनकी डंडी एवं मुख ऊपर की ओर रहता है। यह भगवान के इस उपदेश का प्रतीक है कि अंतर में वृद्धिंगत होओ एवं पवित्रता में ऊर्ध्वमुखी बनो।

हे भगवान ! आप पूर्ण विकसित हुए हैं और आप ही भव्यरूपी कमलों को विकसित करने में कारण हैं। इस भक्ति में शुभ-भाव आते हैं, किन्तु उनमें राग की मुख्यता नहीं है। शरीर तथा वचन की क्रिया से पुण्य-पाप नहीं है, किन्तु शुभ-भाव से पुण्य है। गाय को हरी घास डालने में जो अनुकम्पा का भाव है, वह शुभ-भाव है, वैसे ही भगवान की भक्ति का भाव शुभ है।

देव भक्ति-भाव से पुष्पवृष्टि करते हैं। वे पुष्प मन्दार, सुन्दर, पारिजात आदि कल्पवृक्षों के हैं। वे मानो आपके पवित्र वचनों के विस्तार के द्योतक हैं। भक्त कहता है कि हे प्रभु ! जगत में जो भी सुन्दरता दिखाई देती है, मैं उसमें आपके प्रिय वचनों की दिव्यता ही देखता हूँ, अन्य किसी की महत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती है। हे नाथ! मैं पुष्पवृष्टि को आपके वचनों के प्रवाह का ही रूप मानता हूँ अथवा ऐसा लगता है कि वर्षा की धारा जानकर पक्षीगण आपकी पवित्र वाणी सुनने के लिए पंक्तिबद्ध होकर आते हैं।

आपके मनोहर वचनों से अखिल विश्व प्रभावित एवं गौरवान्वित होता है। मैं आपकी अद्भुत महिमा अपनी असमर्थ वाणी से कैसे कहूँ ? मेरा आत्मा अन्तर में खिलकर जब आप जैसा पूर्ण विकसित हो, तब कहीं मुझसे आपकी पूर्ण आराधना हो सकेगी। महाव्रतधारी भावलिंगी संत श्री मानतुङ्ग आचार्य के भक्ति के विकल्परूप में इस अद्भुत स्तुति की रचना हुई है। ✹

केवलज्ञानी की महिमा

केवली जिनेश परवस्तु को न गहै तजै,
तथा पररूप न प्रनवै तिहुँ काल में॥
जातैं ताकि ज्ञानजोति जगी है अकंपरूप,
छायक स्वभावसुख वेवै सर्व हाल में॥
सोई सर्व वस्तु को विलोकै जान सरवंग,
रंच हू न बाकी रहै ज्ञान के उजाल में।
आरसी की इच्छा बिना जैसे घटपटादिक,
होत प्रतिबिंबित त्यों ज्ञानी गुनमाल में॥

— कविवर वृन्दावनदास : प्रवचनसार परमागम, छन्द १३६

काव्य ३४

शुम्भत्प्रभा-वलय-भूरि-विभा विभोस्ते
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकर-निरन्तर-भूरि-संख्या
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम-सौम्याम्॥३४॥

हिन्दी काव्य

तुम तन-भामण्डल जिनचन्द, सब दुतिवंत करत है मन्द।
कोटिशंख रवि तेज छिपाय, शशि निर्मल निशि करै अछाय॥३४॥

अन्वयार्थ – **(विभोः ते)** हे प्रभो ! आपके **(शुम्भत्प्रभा-वलय-भूरि-विभा)** अत्यन्त शोभनीक प्रभामंडल की अतिशय जगमगाती ज्योति **(प्रोद्यत् दिवाकर-निरन्तर-भूरि-संख्या)** प्रकृष्ट रूप से उदीयमान असंख्य सूर्य को सघन-अविरल जगमगाती हुई तेजयुक्त कान्ति के सदृश है। **(लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिम्)** तीनों लोकों में जितने भी देदीप्यमान पदार्थ हैं उनकी द्युति को **(आक्षिपन्ती)** लज्जित करती हुई, तिरस्कृत करती हुई **(सोम-सौम्याम् अपि)** चन्द्रमा सुदृश सौम्य-शीतल होने पर भी **(दीप्त्या)** अपनी कान्ति से **(निशाम् अपि)** रात्रि को भी **(जयति)** जीतती है।

काव्य ३४ पर प्रवचन

इस काव्य में भगवान के भामण्डल का कथन है। प्रभु ने सर्वज्ञ पद प्राप्त किया है। उनके शरीर की कान्ति उत्कृष्ट तेजयुक्त होती है। मानो वह स्वयं ही भामण्डल बन गई हो। उनके अन्तर में चैतन्य धातु विकसित हो गई है, उससे शरीर भी बदल गया है; अतः शरीर में प्रकाश का मण्डल प्रभातकालीन प्रकाश की असाधारण शोभा सहित होता है।

हे प्रभु! हजारों सूर्यों के समान आपके भामण्डल की अतिशय शोभा तीन लोक के समस्त कान्तिमान पदार्थों की तुच्छता एवं आपकी महानता प्रकट कर रही है तथा चन्द्र के समान सुन्दर होने से रात्रि का भी अभाव करती है।

जिसकी तुलना में समस्त कान्तिवान पदार्थों का तिरस्कार हो जाये ऐसा प्रकाशमान भामण्डल भगवान के मस्तक के पीछे सुशोभित होता है। उसके सामने सूर्य, चन्द्र का तेज भी फीका लगता है। प्रभु! आपके शरीर की कान्ति एवं प्रकाश से ऐसा लगता है, मानो अनेक उगते हुए सूर्य ही हैं। इससे पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है। जिसने पूर्व भव में या इस भव में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया हो, उसके शरीर की दशा ऐसी होती है। भगवान के शरीर एवं भामण्डल को सूर्य की उपमा नहीं दी है, क्योंकि उनमें सूर्य जैसे आताप नहीं है। इसीप्रकार उन्हें चन्द्रमा की उपमा भी युक्ति-युक्त नहीं है; क्योंकि जहाँ भगवान हैं, वहाँ अज्ञानरूपी रात्रि नहीं दिखती है। इसलिए हे नाथ! आपको सूर्य और चन्द्रमा की उपमा नहीं दी जा सकती – ऐसा आपका भामण्डल है। आपके शरीर की ऐसी ही योग्यता है।

आपके अन्तरवर्ती ज्ञानस्वरूप की क्या बात करनी? हे प्रभु! आपकी प्रभा तेजस्वी होते हुए भी आतापकारी नहीं है, वह चन्द्रमा जैसी शीतलता प्रदान करने वाली है। भगवान के समवशरण में रात्रि-दिवस का कोई भेद नहीं है। जब आपको सर्वज्ञ पद प्रकट हुआ, तब तीर्थंकर प्रकृति का फल मिला। यह प्रकृति ध्यानस्थ दशा में बँधती है, किन्तु उसका उदय १३वें गुणस्थान में होता है। जब पूर्ण पवित्रता प्रकटी, तब ऐसा पुण्य होता है। जो यह न समझे, वह तीर्थंकर देव को ही नहीं समझता है।

जिनमुख द्रहसौं निकसी अभंग ....

पर-परिणतिसौं अत्यन्त भिन्न, निज परिणतिसौं अति ही अभिन्न।
अत्यन्त विमल सब ही विशेष, मल लेश शोध राखो न शेष॥२॥
मुनि-मन-मन्दिर को अन्धकार, तिस ही प्रकाशसौं नशत सार।
सो सुलभ रूप पावै न अर्थ, जिस कारण भव-भव भ्रमे व्यर्थ॥४॥
तुम गुण सुमिरण सागर अथाह, गणधर सरीख नहीं पार पाह।
जो भवदधि पार अभव्य रास, पावै न वृथा उद्यम प्रयास॥६॥
जिन-मुख द्रहसौं निकसी अभंग, अति बेग रूप सिद्धान्त गंग।
नय-सप्त-भंग-कल्लोल मान, तिहुँ लोक बही धारा प्रमान॥७॥

– कविवर सन्तलाल : सिद्धचक्रविधान, पंचम पूजा की जयमाला

काव्य ३५

स्वर्गापवर्ग-गम-मार्ग-विमार्गणेष्टः
सद्धर्म-तत्त्व-कथनैक-पटुस्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थ-सर्व-
भाषा-स्वभाव-परिणाम-गुणैर्प्रयोज्यः॥३५॥

हिन्दी काव्य

स्वर्ग-मोख-मारग संकेत, परम-धरम उपदेशन हेत।
दिव्य वचन तुम खिरैं अगाध, सब भाषागर्भित हित साध॥३५॥

अन्वयार्थ – [हे जिनेन्द्र !] (ते दिव्यध्वनिः) आपकी अलौकिक वाणी **(स्वर्ग-अपवर्ग)** देवलोक व निर्वाणलोक को **(गम-मार्ग)** जाने के लिए **(विमार्गण-इष्टः भवति)** अनुसंधान करने में अथवा मार्गदर्शन करने में अभीष्ट है, सहायक है। **[तथा] (त्रिलोक्याः)** तीनों लोकों को **(सद्धर्म-तत्त्व-कथन-एक-पटुः)** समीचीन धर्म-वस्तुस्वरूप या धर्म के तत्त्वों के प्रतिपादन करने में सक्षम है, निपुण है। **[एवं] (विशदार्थ-सर्व-भाषा-स्वभाव-परिणाम-गुणैः प्रयोज्यः)** सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायों के और उनके भावों को प्रगट करने में सक्षम है और सर्वभाषा में परिणत होने की सामर्थ्यवाली होती है।

अर्थात् हे दिव्यभाषापते ! आपकी कल्याणकारी दिव्यध्वनि स्वर्ग व मोक्ष का मार्ग दिखानेवाली है तथा तीनों लोकों के प्राणियों को समीचीन धर्म या जीवादि तत्त्वार्थ तथा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप समझाने में समर्थ है एवं आपकी अलौकिक दिव्यवाणी का यह महान अतिशय है कि वह भिन्न-भिन्न भाषाओं में परिणमन करने के स्वाभाविक गुण से युक्त है।

काव्य ३५ पर प्रवचन

हे भगवन् ! आपकी दिव्यध्वनि अनक्षरी है। सर्वज्ञ भगवान की वाणी को ही दिव्यध्वनि कहा जाता है। अरहंत भगवान की समवशरण सभा में यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों के भाग्य से प्रतिदिन तीन बार दो-दो घड़ी खिरा करती है,

यह वाणी बिना इच्छा के ही खिरती है, क्योंकि उनके इच्छा का तो सर्वथा अभाव ही हो गया है। छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) मनुष्य, देव आदि की तरह आपकी वाणी क्रमवाली अर्थात् क्रम-क्रम से एक-एक शब्द के रूप में मुँह से निकलने वाली नहीं है। "चाहे जो प्रश्न करे और भगवान उनका उत्तर दें – समवशरण में ऐसा नहीं होता।" साधारण मनुष्य, स्त्रियाँ भगवान से सीधे प्रश्न नहीं करते। लोक में भी साधारण जन राजसभा में राजा से सीधे प्रश्न नहीं कर सकता। फिर साक्षात् परमात्मा से साधारण (पुण्यहीन) स्त्री-पुरुष प्रश्न कैसे कर सकते हैं? नहीं कर सकते।

हे नाथ ! साधक मुमुक्षु को आपकी वाणी इष्ट है, किन्तु अज्ञानी मिथ्यात्वी को इष्ट नहीं लगती। इस पंचमकाल के साधक मुनिगण भी स्वर्ग ही जायेंगे, इस क्षेत्र व काल से मुक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके अभी राग विद्यमान है तथा मुक्ति के योग्य पुरुषार्थ नहीं है।

वर्तमान में स्वर्ग एवं अल्पकाल में मोक्ष जानेवालों को ही आपकी वाणी इष्ट लगती। वीतरागी की वाणी वीतराग-स्वभाव और वीतराग-दृष्टिपूर्वक पुण्य का भी यथार्थ स्वरूप बतानेवाली है, किन्तु अन्य किसी की वाणी वास्तविक स्वरूप नहीं बताती है। बालक, वृद्ध, पशु-पक्षी, देव आदि सब उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं; क्योंकि वह सर्वभाषामय है। वाणी का सर्वभाषामय होना पुण्य के अचिन्त्य योग का परिणाम है। तीर्थंकर की वाणी सब भाषा रूप हो जाती है। जो जीव उसे समझे, वह यही समझता है कि भगवान मेरी भाषा में बोल रहे हैं। यह जीव की योग्यता है और पुण्योदय उसमें निमित्त है।

आचार्यदेव दिव्यध्वनि के इस वर्णन द्वारा वीतराग भाव का कथन करते हैं।

हे स्वामिन् ! आपकी वाणी मोक्षमार्ग बतलाती है, वह सर्व जीवों को हित का मार्ग बताने में समर्थ है। आपकी वाणी सर्वभाषारूप बन जाती है, उससे आर्य अपनी आर्य-भाषा में तथा अनार्य अपनी अनार्य भाषा में आपका उपदेश समझ जाते हैं। भगवान के जीभ, ओष्ठ, कंठ, तालु आदि के हिले बिना सर्वांग से वाणी प्रकट होती है। वह वाणी तो निरक्षरी ही प्रकट होती है,

किन्तु श्रोता को वह साक्षरी सुनाई पड़ती है। उनकी ॐकार ध्वनि सुनकर गणधर अर्थ विचारते हैं। उनकी वाणी को ॐकार की उपमा अखण्ड एकाक्षर बताने के लिए दी है।

गोम्मटसार में ऐसा वर्णन है कि भगवान की अखण्ड निरक्षरी वाणी निकलती है, किन्तु श्रोता अपनी योग्यतानुसार उसे अपनी भाषा में समझ लेता है। इसप्रकार उक्त आठ श्लोकों में भगवान के आठ प्रतिहार्यों का वर्णन किया है। ये उनकी बाह्य ऋद्धियाँ हैं, जो कि उनकी आन्तरिक पवित्रता की प्रतीक हैं।

अब आगामी श्लोकों में भगवान के अतिशयों का वर्णन किया जायेगा। भगवान पृथ्वी पर बिहार नहीं करते, वे साधारण जीवों की तरह पृथ्वीशिला पर नहीं बैठते हैं।

निश्चय-व्यवहार : साथ-साथ

निश्चय के समान व्यवहार-मोक्षमार्ग भी ध्यान में ही प्रगट होता है, इसलिए व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग होता है – यह बात ही नहीं रहती। द्रव्यसंग्रह की गाथा ४८ में कहा है कि "दुविहंपि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जंमुणी णियमा' अर्थात् दोनों प्रकार के मोक्ष के कारण (मोक्षमार्ग) ध्यान में प्रगट होते हैं। निज चैतन्य का आश्रय करने पर निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट होता है – ऐसा नहीं है; क्योंकि दोनों एक साथ प्रगट होते हैं।

आनन्द के नाथ भगवान आत्मा को ध्येय बनाकर ध्यान करने पर निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है; उसी काल में जो राग शेष रहता है, उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। इस कारण निश्चय-व्यवहार आगे-पीछे नहीं हैं और व्यवहार से निश्चय भी नहीं होता है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी

प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग २, पृष्ठ ४१३

काव्य ३६

उन्निद्र-हेम-नव-पङ्कज-पुञ्ज-कान्ती
पर्युल्लसन्नख-मयूख-शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

हिन्दी काव्य

विकसित-सुवरन-कमल-दुति, नख-दुति मिलि चमकाहिं।
तुम पद पदवी जहँ धरो, तहँ सुर कमल रचाहिं॥३६॥

अन्वयार्थ – (जिनेन्द्र !) हे जिनेन्द्र ! **(तव पादौ)** आपके दोनों पग, युगल चरण **(उन्निद्र-हेम-नव-पंकज-पुंज-कान्ती)** खिले हुए नूतन स्वर्णवर्ण के कमल समूह के समान कान्तिमान हैं तथा **(पर्युल्लसन् नख-मयूख-शिखाभिरामौ)** सब ओर से फैलनेवाली नाखूनों की किरणों की प्रभा से मनोहर हैं। [वे पद-युगल] **(यत्र पदानि धत्तः)** जहाँ-जहाँ पग (कदम) रखते हैं **(तत्र विबुधाः पद्मानि परिकल्पयन्ति)** वहाँ देवगण आगे-आगे स्वर्णवर्ण के कमलों की रचना करते जाते हैं। अर्थात् –

हे जिनेन्द्रवर ! आपके पावन युगल चरण खिले हुए नवीन स्वर्णवर्ण के सरोजसमूह के समान कान्तिमान हैं। उनके नखों से चतुर्दिक् किरणें बिखर रही हैं। धर्मोपदेश के लिए विहार करते समय आपके द्वारा जहाँ-जहाँ पग रखे जाते हैं, वहाँ-वहाँ देवगण कल्पित स्वर्णकमलों की रचना करते जाते हैं।

काव्य ३६ पर प्रवचन

तीर्थंकर देव में पवित्रता की पूर्णता, प्रभुता और पुण्य की उत्कृष्टता का योग वीतरागता संदेश सुनाने के लिए है।

श्री मानतुङ्ग आचार्य अपने इस स्तोत्र में वीतरागी परमात्मा की स्तुति करते हैं कि हे जिनेन्द्र देव ! आप अन्तरिक्ष में अधर ही विहार करते हैं। श्वेताम्बर शास्त्रों में

कहा गया है कि तीर्थंकर जमीन पर चलते हैं, वे वनपाल की आज्ञा लेते हैं; किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है। कुछ लोग पुण्य की अनुकूलता पाने के लिए भक्तामर स्तोत्र का पाठ करते हैं, यह भी ठीक नहीं है। स्तुति करने से ताले टूटे थे यह तो निमित्त का कथन है, पुण्य-उदय हो तो ऐसा बनाव बने, अन्यथा नहीं।

हे जिनेन्द्र ! आपके चरण खिले हुए कमल एवं स्वर्ण जैसे वर्ण के हैं। भगवान आदिनाथ का शरीर स्वर्ण-वर्ण का था। भगवान के सातिशय पुण्य के फल का पूर्ण वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। भगवान जमीन से ५००० धनुष्य ऊँचे आकाश में गमन करते हैं और समवशरण में भी इतने ही ऊँचे रहते हैं। तीर्थंकरदेव केवली सर्वज्ञ होने के बाद कभी भी जमीन पर नहीं चलते। जो ऐसा नहीं मानते, उन्हें पवित्रता की प्रभुता एवं पुण्य की उत्कृष्टता का ज्ञान नहीं है। भगवान के नाखूनों की कान्ति सूर्य के समान सुशोभित होती है, उसकी तुलना में इन्द्रासन की कान्ति भी नगण्य है। हे नाथ ! जहाँ-जहाँ आपके चरण रखे जाते हैं, वहाँ-वहाँ देव सुन्दरतम स्वर्ण कमल रचते जाते हैं। यह सब आपके पुण्य-प्रताप से होता है। ऐसे स्वर्णकमलों पर ही आपका (अधर) विहार होता है। जहाँ आप चरण रखते हैं, उसके चारों ओर स्वर्णकमल बन जाते हैं – ऐसा वर्णन शास्त्रों में है।

तीर्थंकर मुनिदशा में जहाँ आहार लेने जायें, वहाँ रत्नवृष्टि होती है। उनके आत्मा में ऐसी शक्ति प्रगट होती है कि मुनि अवस्था में भी रत्नवृष्टि होती है। जिन्हें केवलज्ञान युक्त परमात्मदशा प्रकट हुई, उनका पुण्य उदय कैसा होता है, इसका वर्णन भी शास्त्रों में लिखा गया है। जिसने पुण्य और पवित्रता का स्वरूप नहीं समझा है, उसे अखण्डानन्द प्रभु वीतराग का भान नहीं है। जिन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया, उन तीर्थंकर के पुण्य की क्या महिमा करें ? वह सातिशय पुण्य होता है।

हे नाथ ! आपके विहार के समय आपके चरणों के नीचे कमल होते हैं, आगे-आगे देव जय-जयकार का शब्दघोष करते हैं। हे जिनेन्द्र ! आप धर्म के उपदेश के लिए विहार करते हैं, किन्तु इसमें आपको किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। शरीर के परिणमन से ही शरीर चलता है। आप विहार करते हैं – ऐसा जो कहा जाता है, वह आपके विहार के समय सहज सुलभ निमित्तों का ज्ञान कराने के लिए कहा जाता है। अनन्त तीर्थंकर हुए हैं, होते हैं और होंगे, वे सब एक ही

प्रकार के होते हैं। सबकी बाह्य और अन्तर की ऋद्धि एक ही प्रकार की होती है, उनकी इच्छा के बिना ही विहार होता है।

तीर्थंकर प्रकृति के प्रताप से समवशरण में जैसी विभूति व शोभा होती है, वैसी अन्य किसी के नहीं होती है। भगवान चार अंगुल ऊँचे हो जाते हैं, नीचे कमल रहते हैं, किन्तु वे अधर ही विहार करते हैं। नियमसार में टीकाकार आचार्य कहते हैं कि आत्मा रजकण का कार्य नहीं करता और राग भी नहीं करता, किन्तु वीतराग मार्ग भुला दिया गया है, इसलिए लोगों को प्रश्न उत्पन्न होता है कि इच्छा रहित वीतराग भगवान वाणी कैसे बोल सकते हैं ? बिना इच्छा के वाणी नहीं निकल सकती है ? उसका समाधान यह है कि वाणी के कारण वाणी निकलती है, इच्छा से वाणी निकलने की बात यथार्थ नहीं है। (कई बार इच्छा होते हुए भी वाणी नहीं निकलती है।)

आगे आचार्यदेव बतायेंगे कि समवशरण की ऋद्धि तीर्थंकर देव के सिवाय किसी अन्य के नहीं होती।

जो परमातम सो ही मैं

गेह-कार्य यद्यपि करें, तदपि स्वानुभव दक्ष।
ध्यावे सदा जिनेश पद, होय मुक्त प्रत्यक्ष॥१८॥
जिन सुमरो जिन चिन्तवो, जिन ध्यावो मन शुद्ध।
लहो परमपद क्षणिक में, होकर के प्रतिबुद्ध॥१९॥
जिनवर अरु शुद्धात्म में, किंचित् भेद न जान।
मोक्ष अर्थ हे योगिजन ! निश्चय से यह मान॥२०॥
सो जिन सो आतम लिखो, निश्चय भेद न रञ्च।
यही सार सिद्धान्त का, छोड़ो सर्व प्रपञ्च॥२१॥
जो परमातम सो ही मैं, मैं जो यही परमात्म।
ऐसा जान जु योगिजन, करिये कुछ न विकल्प॥२२॥

— मुनिराज योगिन्दुदेव : योगसार पद्यानुवाद

काव्य ३७

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यादृक्प्रभा दिनकृत: प्रहतान्धकारा
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि ॥३७॥

हिन्दी काव्य

ऐसी महिमा तुम विषैं, और धरै नहिं कोय।
सूरज में जो जोत है, नहिं तारा-गण होय॥३७॥

अन्वयार्थ – (जिनेन्द्र !) हे जिनेश्वर ! **(इत्थम्)** इसप्रकार पूर्वोक्तानुसार समवशरण में विराजमान होकर **(धर्मोपदेशन-विधौ)** धर्मोपदेश की क्रिया करते समय **(यथा विभूतिः अभूत्)** जैसा ऐश्वर्य आपका था **(तथा परस्य न)** वैसा वैभव अन्य लौकिक देवों में नहीं पाया जाता। **(दिनकृत: प्रभा यादृक् प्रहत-अन्धकारा)** सूर्य की ज्योति जैसी अन्धकार की नाशक है **(तादृक् विकासिन: अपि ग्रह-गणस्य कुत: ?)** वैसी ज्योति उदित हुए - टिमटिमाते तारागणों के पास कहाँ से हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

काव्य ३७ पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र देव ! अब तो आपने पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त कर ली है, किन्तु अल्पज्ञ दशा में जब राग-द्वेष था, तब भी आपको उस राग का आदर नहीं था; क्योंकि उस राग से भी उत्कृष्ट पुण्य का ही बंध होता है।

जब धर्मोपदेश होता है, उस समय समवशरणादि बाह्य विभूति का संयोग होता है। ऐसी विभूति अन्य किसी के नहीं होती। आपके अनन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र और वीर्य की पूर्ण दशा अर्थात् अनंत चतुष्टय प्रकट हुए हैं। बाह्य विभूति में भी धर्म का वैभव बतानेवाली दिव्यध्वनि समवशरण आदि के योग्य पुण्य का ही उदय होता है।

भगवान की इन स्तुतियों में भी आत्मा की शक्ति का ही वर्णन है। हे नाथ ! संयोग

रूप में आपके जैसा उत्कृष्ट पुण्य का उदय होता है, वैसा अन्य किसी देव के नहीं होता। जैसे दिन में एक सूर्य ही जगत के अंधकार का नाश करता है, रात्रि में ८८ ग्रह और २८ नक्षत्र मिलकर भी अंधकार को दूर नहीं कर सकते; वैसे ही आपके पूर्ण के रपूर्णता है। अरहंतदशा में आपकी जैसी ऋद्धि होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं होती। आपको समवशरण मिला, यह निमित्त का कथन है। वास्तव में आपको वीतरागता ही मिली है, अन्य देवों को यह नहीं मिलती है। जैसे सूर्य की कांति ग्रहादि में नहीं, वैसे ही आपके समक्ष किसी देवादि की कोई गिनती नहीं है।

अरहन्त दशा में जिसे सातिशय पूर्ण पुण्य और पूर्ण पवित्रता का महान योग होता है, वे तीर्थंकर भगवान हैं।

जिससमय श्री मानतुङ्गाचार्य पर उपसर्ग हुआ, उसीसमय उनको आदिनाथ भगवान की स्तुति करने का विकल्प उठा। तत्परिणामस्वरूप यह भक्तामर स्तोत्र रचा गया। ताले टूटने का काल वही था। शुभराग (भक्ति) करने से ताले टूट गये – ऐसा नहीं है, किंतु कथन में निमित्त को प्रधान कर ऐसा कथन भी किया जाता है; अन्यथा जिससमय जो पर्याय होनी है, उस समय वही होती है, अन्य नहीं।

वीतराग-स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान एवं लीनता से केवलज्ञानरूप पूर्ण दशा होती है, किन्तु पहले विश्व कल्याण की भावना से जो शुभराग आता है, उससे तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। तीर्थंकर के पूर्ण पुण्य न हो तो किसके हों ? पवित्रता प्रकट होने से पुण्य का उत्कृष्ट रस बढ़ जाता है। आयु कर्म के अतिरिक्त अन्य पुण्य प्रकृतियों की स्थिति कम हो जाती है, किन्तु शुद्ध उपयोग से उनका रस बढ़ता है। हे नाथ ! आपके पवित्रता के साथ पुण्य की भी पूर्णता है।

जो तीर्थंकर के पुण्य में कमी या दोष बताकर समवशरण में प्रतिकूलता या उपसर्ग होना बताते हैं, उन्हें अरहन्तदशा के पुण्य की खबर नहीं है और वे भगवान के स्वरूप को नहीं जानते हैं।

भगवान के बाह्य में चँवर, छत्र आदि सामग्री होती है; उनकी अन्तरंग पवित्रता के साथ पुण्य के परिणामस्वरूप ये बाह्य सामग्री भी होती है – ऐसा जानना।

काव्य ३८

श्च्योतन्मदाविल-विलोल-कपोल-मूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमर-नाद-विवृद्ध-कोपम्।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्॥३८॥

हिन्दी काव्य

मद-अवलिप्त-कपोल-मूल अलि-कुल झंकारैं।
तिन सुन शब्द प्रचंड क्रोध उद्धत अति धारैं॥
काल-वरन विकराल कालवत् सन्मुख आवै।
ऐरावत सो प्रबल सकल जन भय उपजावै॥
देखि गयन्द न भय करै, तुम पद-महिमा छीन।
विपति रहित सम्पति सहित, वरतैं भक्त अदीन॥३८॥

अन्वयार्थ – [हे भगवन् !] **(भवदाश्रितानाम्)** आपकी शरण में आये हुए आपके भक्तजनों को **(श्च्योतत्)** झरते हुए **(मद)** मदजल से **(आविल)** कलुषित-मलिन हुआ और **(विलोल)** चंचल **(कपोल-मूलम्)** गण्डस्थल प्रदेश [कनपटी] पर **(मत्त)** उन्मत्त-मदान्ध **(भ्रमद्)** मँडराते हुए **(भ्रमर-नाद)** भौरों की गुन-गुनाहट से **(विवृद्ध)** बढ़ गया है **(कोपम्)** क्रोध जिसका – ऐसा **(ऐरावत आभम्)** ऐरावत हाथी जैसे आकारवाले मोटे अथवा ऐरावत हाथी की तरह आभावाले **(आपन्तम्)** सामने आते हुए **(उद्धतम्)** उद्दण्ड, उच्छृङ्खल **(इभं दृष्ट्वा)** हाथी को देखकर भी **(भयं नो भवति)** भय उत्पन्न नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जिसने आपका आश्रय लिया है, उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। यहाँ तक कि क्रोधोन्मत्त विकराल हाथी जिसके कपोलों से मद चू रहा हो और उस पर भौंरे मँडराने से जिसका क्रोध भड़क रहा हो – ऐसा हाथी भी आपके शरणागत भक्त का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

काव्य ३८ पर प्रवचन

इस अड़तीसवें काव्य में श्री मानतुङ्गाचार्य देव ने यह कहा है कि – 'हे भगवान्! अनेक प्रकार के भयों को दूर करने में आप ही निमित्त हो। जो आपका आश्रय लेता है, उसे किसी प्रकार के भय नहीं रहते।' – ऐसा कहकर आचार्यदेव प्रसन्नता व नि:शंकता से भक्ति का उत्साह बढ़ाते हैं।

इस स्तोत्र में मुख्य रूप से तो अंतरंग गुणों का ही वर्णन है। जिसे आत्मज्ञान है, आत्मा के आनन्द का आश्रय है, वह स्वभाव से ही निर्भय होता है। उसे मदोन्मत्त हाथी का भी भय नहीं होता।

मदोन्मत्त हाथी के मस्तिष्क से मद झरता है, मद की गंध से उस पर भ्रमर गुंजार करते हैं। वह हाथी स्वयं भी मद से मलिन हो जाता है, इस कारण उसे क्रोध आ जाता है, ऐसा क्रोधित मदोन्मत्त हाथी जोर से हमला करे एवं जगत को कुचलता फिरे, तब भी हे नाथ ! आपका भक्त उससे भयभीत नहीं होता। जिसने आपको पहचानकर निश्चय-व्यवहाररूप भक्ति में मन लगाया है, उसके पूर्व पुण्य का उदय आवे या पाप का उदय आये, उससे प्राप्त अनुकूल व प्रतिकूल संयोग भी आये तथापि वह चिदानन्द स्वरूप को पाने के लिए उद्यत रहता है। वह अनुकूलता या प्रतिकूलता से क्षुभित होकर स्वरूप में शंका नहीं करता। धर्मात्मा प्रतिकूल संयोग को सहन करता है। जिसे एक समय में ज्ञायक-पूर्ण शुद्धस्वभाव की रुचि हुई है, उसके पूर्व कर्म के उदयानुसार प्रतिकूलता भी हो तो क्या ? हे भगवन् ! आपका भक्त उससे घबराता नहीं है और अन्तर में ध्रुवज्ञातादृष्टि को नहीं छोड़ता है।

भक्त के अन्तर में अपनी आत्मा का अखण्ड आश्रय है, उसे उसी की मुख्यता रहती है; तथापि भक्ति के विकल्प में विनय से सद् निमित्तों का आश्रय करता है। हे प्रभु ! ऐसे ज्ञानी भक्तजनों को आपकी ही शरण है, उसके सिवा अन्य कुदेवादि व्यवहार में भी आदर करने योग्य नहीं हैं। जिसका अन्तर में परम शान्त स्वभाव है, वह उसी की रुचि करता है; उसे किसी का भय नहीं है। वह बाहरी संयोगों को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता है।

क्रोधी पागल हाथी अभी आकर घेरे एवं मारे; तथापि वह नित्य परमात्म पद की निःशंक दृष्टि एवं समता की सावधानी वाला है, उसे पूर्ण पद लेने की तैयारी है। ज्ञानी भक्ति की अहिंसावृत्ति का बाहर में असर पड़े ही, यह आवश्यक नियम नहीं है। कई बार सिंह आदि सच्चे मुनि पर भी आघात करते देखे गये हैं। यदि भक्ति के पुण्य का उदय हो तो उस समय क्रूर हाथी भी उसका कुछ नहीं कर सकता। सम्यग्दृष्टि निःशंक एवं निर्भय रहता है। यहाँ उसकी अस्थिरता की बातें गौण की गई हैं।

नित्य, निर्भय, निःशंक, सर्वसमाधानस्वरूप स्वभाव की शरण लेनेवाले को चाहे जैसे सबल कुतर्क हों, कभी भ्रमित नहीं करते।

काव्य ३९

भिन्नेभ-कुम्भ-गलदुज्ज्वल-शोणिताक्त-
मुक्ता-फल-प्रकर-भूषित-भूमि-भागः।
बद्धक्रमः क्रम-गतं हरिणाधिपोऽपि
नाक्रामति क्रम-युगाचल-संश्रितं ते ॥३९॥

हिन्दी काव्य

अति मद-मत्त-गयन्द कुम्भथल नखन विदारै।
मोती रक्त समेत डारि भूतल सिंगारै॥
बाकी दाढ़ विशाल वदन में रसना लोलै।
भीम भयानक रूप देखि जन थरहर डोलै॥
ऐसे मृगपति पगतलैं, जो नर आयो होय।
शरण गये तुम चरण की, बाधा करै न सोय॥३९॥

अन्वयार्थ – (भिन्न इभ-कुम्भ) भिन्न किये हुए अर्थात् विदारे हुए हाथी के गण्डस्थल से **(गलत् उज्ज्वल)** निकल रहे धवल-श्वेत तथा **(शोणित-अक्त)** रक्त से लिप्त **(मुक्ता-फल-प्रकर)** गजमोतियों के समूह से **(भूषित)** सुशोभित कर दिया है **(भूमि-भागः)** पृथ्वी का भाग जिसने – ऐसा **(बद्ध-क्रमः)** अपने **पराक्रम** को समेटकर आक्रमण करने के लिए कटिबद्ध छलाँग मारता हुआ **(हरिण अधिपः अपि)** सिंह भी **(क्रम-गतम्)** अपने पंजों के बीच पड़े हुए, **(ते)** आपके **(क्रम-युगाचल-संश्रितम्)** चरण-शरण में आये हुए भक्त पर **(न आक्रामति)** आक्रमण नहीं करता है। हिंसक, क्रूर, शिकार करने को उद्यत सिंह भी आपके भक्त के समक्ष अपनी नैसर्गिक क्रूरता को छोड़ देता है।

काव्य ३७ पर प्रवचन

निश्चय से नित्य, निर्भय, निःशंक, सर्वसमाधानस्वरूप, निजस्वभाव की शरण लेनेवाले को तथा व्यवहार से पंचपरमेष्ठी तीर्थंकर भगवन्तों की शरण में रहनेवाले को कोई भी भय या कुतर्क भयभीत व भ्रमित नहीं कर सकते।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि – हे भगवन् ! आपका भक्त क्रूर हिंसक सिंह के भय से भी नहीं डरता; क्योंकि उसने आपके चरण-युगल का आश्रय लिया है। चरण-युगल के लिए यहाँ 'क्रम' शब्द आया है। पंचाध्यायी में – **'प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमगत, कमसर या क्रमबद्ध ही होती है'** – यह बात समझाने के लिए भी पग (चरण) का दृष्टान्त आया है तथा अष्टसहस्री में प्रत्येक द्रव्य की पर्याय समझाने के लिए २८ नक्षत्रों का दृष्टान्त दिया है।

'क्रम' का अर्थ पग होता है। यहाँ भी 'क्रम' शब्द पग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पग दायाँ-बायाँ क्रम से उठता है न ? इससे पग को क्रम कहते हैं। वस्तु का परिणमन भी क्रमबद्ध होता है। अत: इस कावय में निश्चय व व्यवहार – दोनों नयों की अपेक्षा अर्थ घटित होता है।

इस काव्य में 'तीन' बातें मुख्य हैं –

१) आपके चरणों की शरण लेनेवाले भक्त को शिकार की तलाश में निर्द्वन्द्व, उछलते-कूदते छलांग लगाते हुए क्रूर भयंकर सिंह का भी भय नहीं होता।

२) कदाचित् वह क्रूर सिंह आक्रमण करे और उसकी पकड़ में भी आ जावे तो भी जिसने आपके चरणों की (आपके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप की) शरण ली है, वह सदैव निर्भय रहता है।

३) कर्मोदय के विपाक में कैसी भी प्रतिकूलता क्यों न आये, परन्तु धर्मी की दृष्टि नित्यस्वभाव पर ही रहती है, उसे अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का आश्रय व आदर है तथा आपके चरणों का आलंबन है, हृदय में आपके प्रति अपार भक्ति है – ऐसे ज्ञानी भक्तों को सिंहादि जैसे क्रूर प्राणी भयभीत नहीं कर सकते।

जहाँ सिंह व हाथी की भयंकर लड़ाई में बलवान सिंह ने हाथी के मस्तक को विदीर्ण कर दिया हो, तथा उस हाथी के गंडस्थल प्रदेश से गिरे हुए उज्ज्वल (धवल) एवं रक्त से सने हुए लाखों मोतियों का ढेर पृथ्वी पर बिखर गया हो – ऐसे स्थल पर उछलता-कूदता दहाड़ता हुआ क्रूर हिंसक सिंह पहले तो आपके भक्त पर आक्रमण ही नहीं करता। यदि कदाचित् कर्मोदयवश आक्रमण कर भी दे तो आपके चरणकमल रूप पर्वतों की शरण में आया हुआ आपका भक्त डरता नहीं है।

अखण्ड एवं नि:शंक स्वभावी आत्मा की पर्याय में, जहाँ स्वभाव का आश्रय है; श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र ही जिसका जीवन है, पूर्णज्ञानी सर्वज्ञ वीतरागी

की जिसको दृढ़ प्रतीति है, उसे घोरतम कर्म का उदय हो, संयोग में घोर प्रतिकूलता दिखाई देती हो; तथापि ऐसा धर्मी जीव कभी डरता नहीं है।

चारों ओर से किसी ने घेर लिया हो, बाह्य में कोई खूब निन्दा करता हो, कुतर्क करता हो, अपयश करता हो, प्रतिकूलताओं का पार न हो, तथापि हे नाथ ! आपका भक्त किसी प्रकार के भ्रम में नहीं पड़ता। "मैं (आत्मा) अनन्तवीर्य का धनी हूँ – इसका आश्रय छूटने पर धर्म नहीं हो सकता तथा नित्यस्वभाव के आश्रय से ही धर्म का लाभ होता है" – ऐसे दृष्टिवन्त पुरुष को प्रतिकूलतायें प्रभावित नहीं कर सकतीं। वह निश्चय से अपने स्वभाव की ओर और व्यवहार से मात्र पंच परमेष्ठी की ही शरण में रहता है।

निर्भय स्वभाव ही शरणभूत है। जब सुकौशल मुनिराज को सिंह खा रहा था, तब क्या सुकौशल मुनिराज ने भगवान की भक्ति नहीं की होगी ? यदि मन में ऐसा प्रश्न आये तो उसका समाधान यह है कि – भाई ! जहाँ जो जैसा जिन कारणों से बनाव बनना हो, कार्य होना हो, वैसा ही बनाव बनता है – कार्य होता है; वहाँ उसको वैसे ही विकल्पादि निमित्त होते हैं। पंचाध्यायी में **'प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रम-क्रम में होती है'** – ऐसा कहा है। हे नाथ ! तेरी चरण-शरण में भी प्रत्येक पर्याय क्रम से होती है – जो ऐसा निर्णय कर स्वभाव-सन्मुख होकर ठहरा है, उसे संसार में किसीप्रकार का भय नहीं होता। जैसा भगवान ने देखा होगा, वैसा ही होगा तो फिर हमें क्या करना ? इस जगत में केवलज्ञान है, तीन लोक व तीन काल का ज्ञान है, जो ऐसा निर्णय करे; उसकी अल्पज्ञ पर्याय सर्वज्ञ स्वभाव के सन्मुख होकर सर्वज्ञता को स्वीकार करती है तथा निमित्त, राग एवं अल्पज्ञता का आश्रय छूटकर, कर्त्तापने का अहंकार नष्ट हो जाता है, स्वभाव के आलंबन से उसकी दिशा ही पलट जाती है। जहाँ कर्तापने की आकुलता गई, वहाँ ज्ञातापने का पुरुषार्थ तथा निराकुलता हो जाती है।

'अन्तर में ज्ञान आनंद स्वभाव है' – ऐसा दृष्टि से जिसको द्रव्य स्वभाव का आश्रय हो जाता है, उसको जगत में कोई भयभीत करनेवाला नहीं है। पर की शरण माननेवाले के भय रहता है। ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि होने पर आत्मा का मरण भय छूट जाता है; क्योंकि आत्मा मरता ही नहीं है।

केवलज्ञान की शरण अर्थात् स्वभाव की शरण होने पर सिंह का डर नहीं लगता। अन्तर में निर्मलता रहती है। पर्याय में कर्म का निमित्त है। वे कहते हैं कि हे प्रभु ! आपके चरणों की शरण लेनेवालों को वध, बंधन या सिंहादिक का भय नहीं रहता। अल्प अस्थिरता को गौण करके ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि को भय नहीं है।

संयोगों पर दृष्टि रखनेवालों की निमित्तों को कर्त्ता मानने की मान्यता नहीं छूटती।

क्रम अर्थात् पग। जैसे – दायाँ-बायाँ पग क्रम-क्रम से उठता है, उसीप्रकार प्रत्येक पर्याय का होना क्रमबद्ध है। उसमें कुछ फेरफार करना नहीं रहता।अतः कर्त्तापने के भेद की आकुलता छोड़कर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा है – ऐसा निर्णय करे तो केवलज्ञान का निर्णय होता है तथा यथार्थ निर्णय होने पर 'निमित्त आये तो उपादान में कार्य हो' – ऐसी मान्यता छूट जाती है।

स्व-पर की स्वतंत्रता का निर्णय करे तो वस्तुस्वभाव का निर्णय हो तथा वस्तुस्वभाव का निर्णय होने से प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतंत्रता का निर्णय होता है। उससे यह निर्णय होता है कि 'निमित्त से कथन होता है, किन्तु निमित्त से उपादान का कार्य नहीं होता।' सीताजी के पूर्व पुण्य के कारण अग्नि से जल हुआ था – ऐसा नहीं है। तथापि निमित्त-नैमित्तिक का मेल बताने के लिए शास्त्रों में ऐसा कथन आता है। वह तो कुदरती वैसा ही बनने का योग था, अतः अग्नि पानीरूप हो गयी थी, किन्तु भक्तिवश विनयभावना से स्तुति में ऐसा कहते हैं कि हे नाथ ! जो तेरी शरण में है, उसे क्या चिन्ता ?

तन चेतन विवहार एक से,
निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ।
तन की थुति विवहार जीव थुति,
नियत दृष्टि मिथ्या थुति सोइ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर,
तन जिन एक न मानै कोई।
ता कारन तन की संस्तुति सौं,
जिनवर की संस्तुति नहिं होइ॥३०॥

– **कविवर बनारसीदासजी :** समयसार नाटक, जीवद्वार

काव्य ४०

कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-वह्नि-कल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नाम-कीर्तन-जलं शमयत्यशेषम्।।४०।।

हिन्दी काव्य

प्रलय-पवनकर उठी आग जो तास पटन्तर।
बमैं फुलिंग शिखा उतंग पर जलैं निरन्तर।।
जगत समस्त निगल्ल भस्मकर देगी मानो।
तड़तड़ाट दव-अनल जोर चहुँ दिशा उठानो।।
सो इक छिन में उपशमें, नाम-नीर तुम लेत।
होय सरोवर परिनमै, विकसित कमल समेत।।४०।।

अन्वयार्थ – **(त्वत् नाम-कीर्तन-जलम्)** आपके नाम के स्मरणरूपी जल से **(कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-वह्नि-कल्पम्)** प्रलयकाल की महावायु के तेज झकोरों से उत्तेजित हुई – धधकती हुई प्रचण्ड आग के समान **(ज्वलितम्)** जलती हुई **(उज्ज्वलम्)** निर्धूम **(उत्स्फुलिंगम्)** चारों ओर फेंकती हुई चिन्गारियों से युक्त **(विश्वम्)** संसार को **(जिघत्सुम् इव)** मानो निगल लेगी, इसतरह **(सन्मुखं आपतन्तम्)** सम्मुख आती हुई **(दावानलम्)** दावानल को **(अवशेषं शमयति)** पूरी तरह से शान्त कर देता है। अर्थात् प्रलयकाल की तरह भयंकर आग को भी शमन करने के लिए आपका नाम स्मरण जल के समान है।

काव्य ३५ पर प्रवचन

इस काव्य में आचार्य कहते हैं कि भगवान के भक्त को बाह्य-आभ्यंतर अग्नि का भय नहीं होता। भगवान के नाम-कीर्तन की महिमा व्यक्त करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे नाथ ! आपके पवित्र नाम का कीर्तनरूप जल

प्रलयकाल के पवन से प्रज्ज्वलित दावानल को भी पूर्ण शान्त कर देता है। भयंकर दावाग्नि के अंगारे सुलग रहे हों, वहाँ भी तुम्हारे भक्त को भय नहीं होता; क्योंकि वह जानता है कि अस्पर्श स्वभावी आत्मा को अग्नि का स्पर्श ही नहीं हो सकता। सच्चे प्रलयकाल के तूफान सदृश वायुवेग से प्रकुपित प्रचंड [जिसमें हजारों स्फुलिंग (चिनूगारियाँ) निकलती हों, ऐसी] अग्नि तो पुण्योदय से धर्मात्माओं को स्पर्श करती ही नहीं; किन्तु जो धर्मी ज्ञानानन्द में मग्न हैं, उन्हें कषाय-अग्नि भी स्पर्श नहीं करती है।

सम्पूर्ण जगत को भस्म कर देनेवाली भयंकर अग्नि मानो हम सभी को भस्म कर देगी – ऐसा लगता हो, तथापि हे नाथ ! आपका भक्त बाल-बाल बच जाता है। जैसे उसे अन्तर में मिथ्यात्व एवं रागादि प्रभावित नहीं कर सकते, उसीतरह बाहर में अग्नि भी उसे नहीं जला सकती। पहाड़ों में से जब लावा निकलता है तो लोगों को दुःख होता है तथा जमीन में रहनेवाले अरबों कीड़े-मकोड़े बाहर निकलते हैं। एक-एक मील लम्बा-चौड़ा ऊँचा दलदल निकलता है। जिस गाँव में लावा निकलता है, वहाँ एवं उसके आस-पास के पशु एवं मनुष्य नहीं बच सकते; तथापि आपके भक्तों को कष्ट नहीं होता।

कदाचित् धर्मी जीवों को असाता के उदय से बाह्य में ऐसा वातावरण भी बन जाये; तथापि अन्तर में अकषाय स्वभाव की शरण लेकर निर्भय रहता है। हे नाथ ! जो आपकी अविकारी शरण में आया, उसे कषाय अग्नि भय उत्पन्न नहीं कर सकती।

जब द्वारिका नगरी छह माह तक जलती रही, तब वहाँ कितने ही जीव तो आत्महित का विचार कर रहे थे, आत्मा का ही ध्यान कर रहे थे। कितनों को मुनि होने का भाव हो रहा था। उनमें से कितनों को तो उनके पुण्योदय से देवगण वहाँ से उठाकर सुरक्षित स्थान पर भी ले गये थे, शेष अपने पूर्व में बाँधे हुए पापोदय के कारण अग्नि में भस्म भी हुए ही होंगे और कितने ही अज्ञान के कारण कषाय की अग्नि में भी जले होंगे।

देखो, इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने द्वारिका नगरी बनवाई थी तथा जब जलने

का समय आया तब वह इन्द्र और कुबेर को भी उसे बचाने का भाव नहीं आया अथवा बचा नहीं सके। इससे स्पष्ट होता है कि जो होना होता है, वह होता ही है। केवलज्ञानी भगवान नेमिनाथ ने जो जाना था एवं कहा था, वही हुआ; उसमें कुछ नया नहीं हुआ – ऐसा विचार कर सब चले जाते हैं और उनमें से कितने तो ध्यान में बैठ जाते हैं और अग्नि में जलते हुए भी एक भवावतारी हो जाते हैं। हे भगवन्! जो तेरी शरण में आ गया, उसे किसी प्रकार की अग्नि का भय नहीं रहता।

पवित्रता क्या है ? पुण्य क्या है ? सुख-दु:ख क्या है ? – यह सब ज्ञानी के उपदेश द्वारा सुनने-समझने के लिए मिलता है। इसलिए जो कुछ तत्त्वलाभ होता है, वह ज्ञानी के कारण मिलता है – ऐसा कहते हैं। ज्ञानी सच्चा ज्ञान कराना चाहता है। अज्ञानी को तो सच्चा ज्ञान ही नहीं है। अत: अज्ञानी के वचन से वास्तविक पुण्य व पुण्य का फल जानने में नहीं आता। ज्ञानी के वचन से ही वास्तविक पुण्य-पवित्रता व उसका फल आदि जाना जाता है। अत: आत्मकल्याण के इच्छुक को तत्त्वज्ञानियों का अधिक से अधिक सत्संग करना योग्य है।

व्यवहार क्या ?

मिथ्यादृष्टि शुभराग से लाभ मानता है; उसके शुभराग को व्यवहार नहीं कहते। मिथ्या अभिप्राय रहित होकर शुद्ध आत्मा के आलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और शुक्लध्यानादि की पर्याय प्रगट होती है। छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं – ऐसा प्रथम समझना चाहिए और जीव में होनेवाली पर्याय क्षणिक है, वह उत्पाद-व्ययरूप है। धर्म पर्याय में होता है, किन्तु पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं होता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का शुभराग आये, उसके आधार से धर्म नहीं है। उसका भी आश्रय छोड़कर शुद्धस्वभाव के आश्रय से धर्म प्रगट करे, यह निश्चय है; इसलिये निश्चय प्रथम होता है। जिसे ऐसे निश्चय का भान हो – ऐसे धर्मी जीव के शुभराग को व्यवहार कहते हैं।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, पृष्ठ : ११५

काव्य ४१

रक्तेक्षणं समद-कोकिल-कण्ठ-नीलं
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रम-युगेण निरस्त-शङ्क
स्त्वन्नाम-नाग-दमनी हृदि यस्य पुंसः ।।४१ ।।

हिन्दी काव्य

कोकिल-कंठ-समान श्याम-तन क्रोध जलंता।
रक्त-नयन फुंकार मार विष-कण उगलन्ता।।
फण को ऊँचो करै वेग ही सन्मुख धाया।
तब जन होय निशंक देख फणिपति को आया।।
जो चाँपै निज पगतलैं, व्यापै विष न लगार।
नाग-दमनि तुम नाम की, है जिनके आधार।।४१ ।।

अन्वयार्थ – (यस्य पुंसः हृदि) जिस पुरुष के हृदय में **(त्वत् नाम-नाग-दमनी)** आपके नामरूपी नाग-दमनी है, **(सः निरस्त शङ्कः)** वह भय या शंका से रहित होकर निर्भयता से **(रक्त-ईक्षणम्)** रक्तवर्ण के नेत्रोंवाले **(समद)** उन्मत्त, **(कोकिल-कण्ठ-नीलम्)** कोयल की ग्रीवा समान काले **(क्रोधोद्धतम्)** क्रोध के उदण्ड अर्थात् अत्यन्त क्रोधित **(आपतन्तम्)** सामने आते हुए **(उत्फणम्)** ऊपर की ओर फण उठाये हुए **(फणिनम्)** सर्प को भी **(क्रमयुगेण)** दोनों पैरों से **(आक्रामति)** लाँघ जाता है।

अर्थात् जिस पुरुष हे हृदय में आपके नाम स्मरण स्वरूपी नागदमनी (एक प्रकार की जड़ी-बूटी) है, वह अपने दोनों पैरों से लाल-लाल आँखोंवाले क्रुद्ध सर्प को भी निर्भय व निःशंक होकर लाँघ जाता है।

काव्य ४१ पर प्रवचन

हे प्रभु ! आपकी शरण से सम्पूर्ण विघ्न टल जाते हैं। आचर्य अन्तर में पूर्ण

ज्ञान शक्ति को ध्येय बनाकर ऐसा गाना गाते हैं कि हे नाथ ! आपका भक्त नि:शंकपने काले भयंकर सर्प को भी उलाँघ जाता है।

देखो, इस काव्य में भी 'क्रमयुगेण' शब्द आया है। हे नाथ ! जिस पुरुष के हृदय में केवलज्ञानी परमात्मा का स्मरण तथा पूर्ण आनन्दमय निज-स्वरूप का स्मरण होता है, वह स्वभाव सन्मुख ढल जाता है।

लाल आँख वाला तथा कोयल के कंठ के रंग जैसा काला सर्प, क्रोध से उद्धत हुआ हो तथा मानो पुरुष के पग में लिपट गया हो, तथापि जिसके हृदय में ज्ञायक स्वभाव मुख्यरूप से बस गया हो तथा राग-द्वेष व अल्पज्ञता का आश्रय छोड़ा हो और केवलज्ञानी की शरण ली हो, उसे किसीप्रकार की शंका नहीं होती और ऐसे जीव को सर्प का भय नहीं होता। जैसे सर्प के मंत्र को जाननेवाला व्यक्ति दो पग से सर्प को उलाँघ जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी कर्म के उदय को कुचलता हुआ आगे बढ़ जाता है। धर्मात्मा को कर्म का डंक नहीं लगता। प्रतिकूल संयोगों में भी धर्मी जीव निर्भय-नि:शंक रहते हैं, उन्हें न सर्प का भय है, न कर्म रूप सर्पों का भय है। हे भगवन् ! आपका स्मरण करनेवालों को कोई प्रतिकूलता नहीं रहती अर्थात् आप के भक्तों के अन्तर में आकुलता नहीं होती। वह आपके स्वभाव की शक्ति के बल से प्रतिकूलताओं पर सहज विजय प्राप्त कर लेता है।

ऐसै जिनराज ताहि वंदत बनारसी

जामैं लोकालोक के सुभाव प्रतिभासे सब,
जगी, ग्यान सकति विमल जैसी आरसी।
दर्शन उद्योत लीयौ अंतराय अंत कीयौ,
गयौ महा मोह भयौ परम महारसी ।।
संन्यासी सहज जोगी जोग सौं उदासी जामैं,
प्रकृति पच्चासी लगि रही जरि छारसी।
सोहै घट-मंदिर मैं चेतन प्रगटरूप,
ऐसे जिनराज ताहि वंदत बनारसी ।।२९।।

– कविवर बनारसीदासजी : समयसार नाटक, जीवद्वार

काव्य ४२

वल्गत्तुरङ्ग-गज-गर्जित-भीमनाद-
माजौ बलं बलवतामरि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकर-मयूख-शिखापविद्धं
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति।।४२।।

हिन्दी काव्य

जिस रनमाहिं भयानक रव कर रहे तुरंगम।
घन से गज गरजाहिं मत्त मानो गिरि जंगम।।
अति कोलाहल माहिं बात जहँ नाहिं सुनीजै।
राजन को परचंड, देख बल धीरज छीजै।।
नाथ तिहारे नामतैं, सो छिनमाहिं पलाय।
ज्यों दिनकर परकाशतैं, अन्धकार विनशाय।।४२।।

अन्वयार्थ – **(त्वत् कीर्तनात्)** आपके नाम के कीर्तन से या आपका स्मरण करने से मात्र **(आजौ)** संग्राम में जहाँ **(वल्गत् तुरङ्ग गजगर्जित भीमनादम्)** उछल-उछलकर हिनहिनाते हुए घोड़ों और गर्जना करते हुए हाथियों की भयंकर आवाज हो रही है, जिसमें ऐसी **(बलवताम्)** पराक्रमी, शक्तिशाली सेनाओं से युक्त **(अरिभूपतीनाम्)** शत्रु राजाओं की **(बलम्)** सेनायें **(उद्यत् दिवाकर-मयूख-शिखा अपविद्धं)** उदीयमान सूर्य की किरणों के अग्रभाग से भेदे गए **(तं इव)** अन्धकार की तरह **(आशु)** शीघ्र **(भिदाम् उपैति)** विनाश को प्राप्त होती हैं।

काव्य ४२ पर प्रवचन

दिगम्बराचार्य मुनिवर श्री मानतुङ्ग वैसे तो अधिकांश आत्मा के ज्ञानानन्दरस में ही सराबोर रहते थे, किन्तु उन्हें भी जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का उत्साह आया और यह भक्तामरकाव्य के रूप में महान काव्यरूप स्तुति बन गई। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि श्री मानतुङ्गाचार्य ने यह काव्य बनाया।

किंवदन्ति है कि आचार्य श्री मानतुङ्ग को तत्कालीन राजा ने ४८ दरवाजों के अन्दर ताले लगाकर बन्दी बनाया था। उस समय मुनिवर श्री मानतुङ्ग द्वारा यह काव्यमय स्तुति बनाई गई। उनकी अन्दर की पवित्रता और बाह्य में पुण्योदय के निमित्त से उन ४८ दरवाजों के सभी ताले टूट गये। जब जिनेश्वरदेव की निश्चय-भक्ति से कर्म की १४८ प्रकृतियाँ टूट जाती हैं तो पुण्य के उदय से ४८ ताले टूट गये तो इसमें क्या आश्चर्य ?

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी संग्राम में लड़ाई के मध्य खड़ा हो तो भी उसे भय नहीं होता। वह आत्मा के ध्रुव ज्ञानस्वभाव के आश्रय से अन्तरंग के रागादि शत्रुओं को जीत लेता है तथा बाह्य में पूर्व पुण्य के योग से संग्राम (लड़ाई) जीत लेता है – यह सब आपकी भक्ति का ही प्रभाव है। आप ही वीतरागी देव हो, ज्ञानी आपके सिवाय अन्य किसी की स्तुति नहीं करता; तीर्थंकर, वासुदेव, बलदेव आदि शलाका पुरुष हैं। इन्हें अपने पूर्णानन्दस्वभाव का भान होने पर भी वर्तमान कमजोरी से युद्ध करने का भाव आ जाता है, किन्तु हृदय में आपके प्रति भक्तिभाव होने से पुण्योदय के फलस्वरूप वहाँ भी जीत जाते हैं।

हे भगवन् ! आपकी भक्ति करनेवालों को अन्तरंग में कर्म शत्रुओं पर एवं बहिरंग में संग्राम के शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती ही है; क्योंकि आपके भक्त भक्ति के भावों से ऐसा ही पुण्य बाँधते हैं। देखो ! मुनिश्री मानतुङ्ग को भक्ति का शुभराग आया है। वे उसमें वीतराग भगवान की स्तुति करते हैं। अन्तरंग में आत्मगीत (आत्मा के गाने) गाते हैं तथा बाह्य में वीतरागी परमात्मा की स्तुति करते देखे जाते हैं। हे देव ! आपकी ऐसी भक्ति करनेवाला धर्मात्मा यदि गृहस्थ-दशा में ऐसे युद्ध में जाता है, जहाँ घोड़े उछलते हैं, हाथी गर्जते हैं, सामने महा-पराक्रमी राजा ललकारते हैं तो वह आपकी भक्ति के प्रसाद से ऐसी बलवान सेना को भी जीत लेता है।

जैसे सूर्य की किरणें अन्धकार का नाश करती हैं, वैसे ही धर्मात्मा ज्ञानस्वभाव के आश्रय से अन्तरंग में राग का तो नाश करता ही है और बाह्य में पुण्योदय के कारण संग्राम जीत भी लेता है।

हे नाथ ! आपकी भक्ति बिना ऐसा पुण्य नहीं होता। आचार्य कहते हैं कि

वर्तमान अवस्था में केवलज्ञान नहीं है, किन्तु जिसने केवलज्ञान की सत्ता को स्वीकार किया, निजस्वभाव के सन्मुख हो 'स्व' को स्वीकार किया है, उसे महा सातिशय पुण्यबन्ध होता है; पाप पलट जाता है, इससे बाहर का संग्राम तो क्या चीज है ? मोह राजा का संग्राम भी जीत लेता है।

भावार्थ यह है कि हे नाथ ! जैसे सूर्य की किरणों से अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार आपके यशोगान से आपका भक्त बड़ी-बड़ी सेनाओं को जीत लेता है। अपने अनन्त गुणों के समाज की मुख्यता जिसे हुई, उसकी सर्वत्र विजय ही विजय है। यदि बाह्य में बड़ी सेना को जीत लिया तो इसमें क्या आश्चर्य ?

क्या समयसार के भक्ति अधिकार (३१, ३२, ३३ गाथा) में तथा यहाँ की भक्ति की बात में परस्पर विरोध है ? निश्चय से स्व को जीता व व्यवहार से पर को जीता, क्या ऐसा है ? नहीं, पर में कुछ जीतना-हारना नहीं है। निमित्त के कथन में बाह्य-संयोगों की बात आती है।

आत्मा में अन्तर्मुख होने से जिसे अपूर्व आह्लाद आया, वह मिथ्यात्व को जीतनेवाला जिन हुआ अर्थात् विजयी हुआ और वह विजयी आत्मा अपने स्वभाव के ही गुण गाता है, इससे बाहर में भी जीत होती ही है – यह सहज-स्वाभाविक ही है। इसीकारण उसने संग्राम जीता – ऐसा कहा जाता है।

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी के लक्षण

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान तप शीलभाव को ही,
आत्मा का हित मान छोड़ै नहीं मुद्धता॥
कोई व्यवहारनय-निश्चय के मारग को,
भिन्न-भिन्न पहचान करै निज उद्धता।
जाने जब निश्चय के भेद-व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता॥५॥

– पण्डित टोडरमलजी : पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, मङ्गलाचरण

काव्य ४३

कुन्ताग्र-भिन्न-गज-शोणित-वारिवाह-
वेगावतार - तरणातुर - योध - भीमे।
युद्धे जयं विजित-दुर्जय-जेय-पक्षा-
स्त्वत्पाद-पंकज-वनाश्रयिणो लभन्ते ।।४३।।

हिन्दी काव्य

मारै जहाँ गयन्द कुम्भ हथियार विदारै।
उमगै रुधिर प्रवाह बेग जल-सम विस्तारै।।
होय तिरन असमर्थ महाजोधा बल पूरे।
तिस रन में जिन तोर भक्त जे हैं नर सूरे।।
दुर्जय अरिकुल जीत के, जय पावैं निकलंक।
तुम पद-पंकज मन बसै, ते नर सदा निशंक।।४३।।

अन्वयार्थ – (त्वत्पाद-पङ्कज-वन आश्रयिण:) आपके चरणकमलरूपी उपवन का आश्रय लेनेवाले भव्यजीव **(कुन्त अग्र)** भाले के नुकीले भाग से **(भिन्न)** भेदित हुए-क्षत-विक्षत हुए **(गज-शोणित-वारिवाह)** हाथियों के रक्तरूपी जलप्रवाह में **(वेगावतार-तरण-आतुर)** तेजी से उतरने में तथा तैरने में उतावले **(योध)** योद्धाओं से युक्त **(भीमे)** भयंकर **(युद्धे)** युद्ध में **(विजित-दुर्जय-जेय-पक्षा:)** कठिनता से जीता जा सके – ऐसे शत्रुपक्ष को भी **(जयं लभन्ते)** आसानी से जीत लेते हैं।

तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! आपका भक्त योद्धा बात की बात में दुर्जय दुश्मनों को परास्त कर देता है; क्योंकि वह आपके मंजुल चरणरूपी कमलों की छत्र-छाया में जा पहुँचा है।

काव्य ४३ पर प्रवचन

हे नाथ ! जो आपके चरण-कमलरूपी वन का आश्रय लेता है, वह स्वरूप में एकरूप होकर ज्ञान-शान्ति के स्वाद सहित शीतलता प्राप्त करता है। जैसे – हरे-भरे-शीतल वन की छाया का आश्रय लेनेवाले व्यक्ति का आताप मिट जाता है और शीतलता प्राप्त होती है; उसीप्रकार जो आपका निमित्त पाकर

अपने चैतन्य स्वभाव की शरण में, शीतल छाया में आता है; वह शान्ति व शीतलता प्राप्त करता है।

हे भगवन् ! युद्ध में मार-काट हो रही हो, पानी की तरह रक्त प्रवाहित हो रहा हो – ऐसे युद्ध में रक्तप्रवाह को चीरता हुआ भी यदि आपका भक्त लड़ाई में जाता है तो वहाँ भी पुण्ययोग से विजय ही प्राप्त करता है।

राजा मधु युद्ध करने गया, उसे वहाँ भयंकर तीर लगा, तीर लगते ही उसे वैराग्य आ गया तो तुरन्त वहीं युद्धभूमि में ही शरीर आदि से ममता छोड़कर समाधिमरण को प्राप्त हो गया। जो मोहशत्रु जीतने लायक था, उसने समाधि द्वारा उसे जीत लिया। इसीतरह यदि कोई पूर्व के पुण्य से बाह्य युद्ध को जीतता है तो वह भी आपकी भक्ति का ही प्रताप है।

भगवान की भक्ति के कारण ही शान्ति प्राप्त होती है और भगवान की भक्ति के कारण ही जीत मिलती है। जहाँ देखो वहीं, सब जगह भगवन् ! आपकी ही महिमा दिखाई देती है।

हे नाथ ! आपका भक्त अन्तर-बाह्य दोनों संग्राम जीतता है। सम्यग्दृष्टि युद्ध में भी आत्मभान – स्व-पर विवेक रखता है। स्वभाव के अनुमोदन से पुण्य में रस बढ़ जाता है, अत: यदि बड़ी भारी सेना को जीत लेवे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है – यह सब आपकी भक्ति का ही प्रताप है। अजेय शत्रुओं को भी आपका भक्त क्षणभर में जीत लेता है।

भगवान नेमिनाथ गृहस्थ दशा में तीन ज्ञान के धारी थे। वे जरासंघ के सन्मुख युद्ध में गये थे। उनके पास अनेक विद्यायें थीं। इन्द्र ने भी उनकी रक्षा करने के लिए रथ सहित सारथी भेजा था। यद्यपि इन्द्र जानता था कि भगवान नेमिनाथ इसी भव से मोक्ष जानेवाले हैं। उनका शरीर वज्र जैसा मजबूत है, उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता; फिर भी भक्तिवश उसको रक्षा का विकल्प आ गया। जरासंघ ने दैवी अस्त्रों का प्रयोग किया, किन्तु नेमिनाथ श्रीकृष्ण के आगे खड़े हो गये तो चक्ररत्न शान्त होकर श्रीकृष्ण के हाथ में आ गया। इसप्रकार श्रीकृष्ण की विजय हुई और जरासंघ युद्ध में पराजित होकर मारा गया।

हे भगवन् ! जिसने आपके चरणकमल का आश्रय लिया, आपकी भक्ति के प्रसाद से उसकी संग्राम में भी जीत ही होती है; क्योंकि आपके चरण सान्निध्य में रहनेवालों को पवित्रता के साथ ऐसा पुण्य भी बँधता है, जिसके निमित्त से वे लौकिक युद्ध में भी जीत जाते हैं।

काव्य ४४

अम्भोनिधौ क्षुभित-भीषण-नक्र-चक्र
पाठीन-पीठ-भय-दोल्वण-वाडवाग्नौ।
रंगतरंग-शिखर-स्थित-यान-पात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति॥४४॥

हिन्दी काव्य

नक्र चक्र मगरादि मच्छ करि भय उपजावै।
जामैं बड़वा अग्नि दाहतैं नीर जलावै॥
पार न पावै जास थाह नहिं लहिये जाकी।
गरजै अतिगम्भीर लहर की गिनती न ताकी॥
सुखसों तिरै समुद्र को, जे तुम गुन सुमराहिं।
लोल-कलोलन के शिखर, पार यान ले जाहिं॥४४॥

अन्वयार्थ – (भीषण-नक्र-चक्र-पाठीन-पीठ) भयंकर मगरमच्छ एवं घड़ियालों और पाठीन नामक भीमकाय मत्यों से **(क्षुभित)** आन्दोलित **(अम्भोनिधौ)** सागर में **(भय-दोल्वण-वाडवाग्नौ)** [जिसमें] भयंकर विलक्षण बड़वानल सुलग रहा हो [ऐसे] **(रङ्गतरङ्ग-शिखर-स्थित)** तीव्रता से उछलती हुई लहरों के ऊपरी सतह पर स्थित डगमगाते हुए **(यान-पात्राः)** जहाज के पुरुष **(भवतः स्मरणात्)** आपका स्मरण करने से **(त्रासं विहाय)** दुःख से मुक्त होकर **(व्रजन्ति)** आगे बढ़ जाते हैं।

काव्य ४४ पर प्रवचन

हे नाथ ! समुद्र में बड़े मगरमच्छ व अन्य क्रूर जलचर तो होते ही हैं एवं यदि उसमें बड़वानल (समुद्री अग्नि) भी प्रगट हो गई हो और तूफानों से समुद्र आन्दोलित हो रहा हो, तब ऐसी स्थिति में समुद्र को पार करना कितना कठिन है ! किन्तु आपके भक्त सम्यग्दृष्टि जीव आपके स्मरण मात्र से ऐसे भयंकर समुद्र को भी पार कर लेते हैं। हे भगवन् ! यह आपकी भक्ति का ही प्रताप है।[१] जो

---

१) यद्यपि निश्चय से तो यह जीव अपने स्वरूप की साधना द्वारा ही मुक्ति पद प्राप्त करता है; तथापि उसके हृदय में आपके प्रति अनन्त भक्ति होती है, इसलिए व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि आपके नामस्मरण से पार होता है।

केवल वाणी से स्तोत्र का काव्य-पाठ कर लेता है, उसकी यह बात नहीं है; बल्कि जो निश्चय से चैतन्य प्रभु आत्मा का भक्त है और व्यवहार से सर्वज्ञ परमात्मा का भक्त है, वह समुद्र तो पार होता ही है; भवसमुद्र से भी पार हो जाता है। 'जैसे आप सर्वज्ञ हो, वैसा ही मैं भी सर्वज्ञस्वभावी ज्ञाता-दृष्टा हूँ' – ऐसा आत्मभान जो हुआ है – वह सब आपकी ही भक्ति का प्रताप है, संसार-समुद्र पार उतारने में आपकी भक्ति नौका के समान है।

तारणहार स्वभाव को जाननेवाला ही तरने का उपाय बताता है। हे प्रभु ! आप महिमावंत हो, मैं भी शक्तिरूप से महिमावंत पदार्थ हूँ। जहाँ दोनों महिमावंत मिले हों, वहाँ तीसरा कौन इसका श्रेय ले सकता है ? हे प्रभु ! जब मुझे केवलज्ञान प्राप्त करना है और संसार-समुद्र तरना है तो फिर इस जल-समुद्र से तर जाने में क्या बड़ी बात है ? जैसे आप वर्तमान में हैं, मुझे वैसा होना है। मेरे पुण्य का रस वृद्धि को प्राप्त होने से आप जैसा तीर्थंकर पद भी प्राप्त होगा।

मुझे निश्चय-स्वभाव का स्मरण तथा पुण्य-पाप व निमित्त का विस्मरण करना है। नित्य-स्वभाव की निर्भयता में कोई भय नहीं है। जब मैं विकाररूपी शत्रु को जीतने के लिए तत्पर हूँ तो फिर बाहरी शत्रुओं को जीत लिया – तो इसमें क्या आश्चर्य है ? मैं संसार-समुद्र किनारे पर आ गया हूँ। अन्तर में निजशक्ति से भरा हूँ, बाहर से भी शक्ति से भरपूर हूँ – दोनों प्रकार से भरा-पूरा हूँ, अतः अब मुझे कोई डुबोनेवाला नहीं है।

मेरो धनी नहिं दूर दिसन्तर

केई उदास रहैं प्रभु कारण,
केई कहैं उठि जांहि कहींकै।
केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति,
केई पहाड़ चढ़ै चढ़ि छींकै॥
केई कहैं असमान के ऊपरि,
केई कहै प्रभु हेठि जमीं कै।
मेरो धनी नहिं दूर दिसन्तर,
मोही में है मोहि सूझत नीकै॥

– कविवर बनारसीदासजी, समयसार नाटक, बन्धद्वार, छन्द : ४८

काव्य ४५

उद्भूत-भीषण-जलोदर-भार-भुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत-जीविताशाः।
त्वत्पाद-पंकज-रजोमृत-दिग्ध-देहा
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज-तुल्यरूपाः ।।४५।।

हिन्दी काव्य

महा जलोदर रोग भार पीड़ित नर जे हैं।
वात पित्त कफ कुष्ठ आदि जो रोग गहै हैं।।
सोचत रहैं उदास नाहिं जीवन की आशा।
अति घिनावनी देह धरैं दुर्गन्धि-निवासा।।
तुम पद-पंकज-धूल को, जो लावैं निज-अंग।
ते निरोग शरीर लहि, छिन में होय अनंग।।४५।।

अन्वयार्थ – **(उद्भूत-भीषण-जलोदर-भार-भुग्नाः)** उत्पन्न हुए भयंकर जलोदर रोग के भार से टेढ़ी हो गई है कमर जिसकी तथा **(शोच्यां दशा-मुपगताः)** शोचनीय, दयनीय दशा को प्राप्त हो गया है जो एवं **(च्युतजीवित-आशाः)** छोड़ दी है जीवन की आशा जिसने – ऐसे **(मर्त्याः)** मनुष्य भी जब **[हे भगवन्]** **(त्वत् पाद-पङ्कज-रजोमृत-दिग्धदेहा)** आपके पाद-पद्मों की रज (धूलि) रूपी अमृत से अपने शरीर को लिप्त कर लेते हैं तो वे मनुष्य **(मकरध्वज-तुल्यरूपाः)** कामदेव के समान सुन्दर रूपवाले **(भवन्ति)** हो जाते हैं।

हे भगवन् ! जिसको अति कष्टदायक जलोदर जैसा भयंकर रोग भी हो गया हो, जिसके कारण पेट में पानी भर जाता है, उस बड़े हुए पेट के भार से कमर टेढ़ी पड़ गई हो; नितान्त शोचनीय दशा हो गई हो, जीवन की आशा छूट गई हो; तथापि यदि वह आपके चरणकमलों की रज को अपने शरीर पर लगाता है तो वह सचमुच ही कामदेव के समान रूपवान बन जाता है।

काव्य ४५ पर प्रवचन

इस काव्य में यह कहा जा रहा है कि वीतराग-भगवान की भक्ति करने वाले धर्मात्मा जीवों को किसी प्रकार के रोग नहीं सताते। भगवान की भक्ति से धर्मात्माओं के रोगों का नाश हो जाता है।

जलोदर जैसे महारोग से शरीर जल गया हो, पेट में पानी भर गया हो, शरीर की शोचनीय दशा हो गई हो, जीवन की आशा छूट गई हो अर्थात् मरणासन्न दशा को प्राप्त हो गया हो; तथापि जो धर्मात्मा आपकी चरण-शरण में आते हैं, भक्तिभाव से आपके चरण-कमल की रज मस्तक पर धारण करते हैं, उनके पाप क्षीण हो जाते हैं तथा पुण्योदय का सुमेल होने से ऐसे भयंकर रोग भी नष्ट हो जाते हैं और वे निरोगी हो जाते हैं। इसलिए आपकी महिमा गाने की भावना होती है।

ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा के आश्रय से जब भ्रान्ति का रोग नष्ट हो जाता है तो आपकी भक्ति से हुए पुण्य के फल में यदि बाह्य रोग नष्ट हो जाते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

भगवान के चरण-कमल के नीचे की पृथ्वी एवं उसकी धूल की पवित्रता की बात कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि – हे भगवन् ! मैं आपके चरणों की सर्वत्र महिमा देखता हूँ। धूल का कण-कण आपके चरणों के स्पर्श से मानो पवित्र हो गया है। जो भी उस धूल को मस्तक पर धारण करता है, उसके सभी प्रकार के रोग मिट जाते हैं। जो आपकी चरण-शरण में आया, उसका जन्म-जन्मान्तर का रोग भी नहीं रहता।

किसी कवि ने कहा है –

चलता-फिरता प्रगट प्रभु देखूँ रे,
अपना जीवन सफल तब लेखूँ रे;
मुक्तानन्द नो नाथ बिहारी रे,
शुद्ध है जीवन दोरी हमारी रे॥

अर्थात् जब मैं चलते-फिरते प्रभु के दर्शन करूँगा, तब अपना जीवन सफल समझूँगा। मुक्तानन्द का नाथ तो चैतन्यविहारी है।

निरन्तर अन्तरंग कारणशक्ति की महिमा देखनेवाला परमात्मा के गाने गाता है। भक्त कहता है कि जबतक तीनलोक व तीनकाल को जानने की शक्ति प्रगट न हो जाये, तबतक अखण्ड ज्ञानस्वभाव की महिमा नहीं छूटती। द्रव्यस्वभाव

की मुख्यता कभी छूटती नहीं और पुण्य-पाप तथा निमित्त की मुख्यता कभी ज्ञानी के आती नहीं। जब स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व जैसे रोग मिट जाते हैं तो बाहर में शरीर के रोग मिट जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है?

जिसने आपके चरणों की रज अपने मस्तक पर ली है, वह कामदेव समान महान रूपवान हो जाता है। भक्ति के शुभराग का आदर नहीं है; तथापि वीतराग-दृष्टि वाले के ऐसा पुण्य सहज बँधता है कि बाह्यरोग मिट जाते हैं।

सम्यग्दर्शन की भूमिका में ऐसा पुण्य सहज बँध जाता है। जैसे सर्वज्ञ परमात्मा का कार्य भी मात्र जानना ही है, वे कुछ करते-कराते नहीं हैं, उसीप्रकार मेरा कार्य भी मात्र जानना ही है। जिसने ऐसा मान लिया, उसके अभ्यन्तर रोग तो नष्ट हो ही जाते हैं, बहिरंग रोग भी नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

हे नाथ! जो वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानकर आपके चरणों का ध्यान करता है अर्थात् जिसको आत्मस्वभाव की श्रद्धापूर्वक भक्ति का राग उठा है, वह सर्वज्ञ परमात्मा का ध्यान करता है। जहाँ अन्तरंग में निरोगतारूप वीतरागभाव बढ़ता है, वहाँ शारीरिक रोग कैसे रह सकते हैं? क्योंकि वहाँ पुण्य का रस बढ़ता है और जलोदरादि रोग नष्ट हो जाते हैं।

सन्तों की भक्ति मर्म से भरी हुई है। उनके अन्तरंग व बहिरंग भय नहीं है। आचार्यदेव जानते हैं कि हमें अगले भव में स्वर्ग जाना है, उसके बाद हम केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।

ऐसी पवित्रता व उत्कृष्ट पुण्य का रस आपके शासन में होता है। मिथ्यादृष्टि को ऐसी पवित्रता नहीं होती और ऐसा पुण्य भी नहीं बँधता।

शीघ्र अनुभव कीजिए

मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या?
संबंध दुःखमय कौन है, स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेक पूर्वक, शान्त होकर कीजिये।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिये॥४॥
किसका वचन उस तत्त्व की, उपलब्धि में शिवभूत है?
निर्दोष नर का वचन रे! वह स्वानुभूति प्रसूत है॥
तारो अहो! तारो निजात्मा, शीघ्र अनुभव कीजिये।
सर्वात्म में समदृष्टि द्यो, यह वच हृदय लिख लीजिये॥५॥

— श्रीमद् रायचन्द्र : अमूल्य तत्त्व विचार

काव्य ४६

आपाद-कण्ठमुरुशृंखल-वेष्टितांगा
गाढं वृहन्निगड-कोटि-निघृष्ट-जंघा।
त्वन्नाम-मन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगत-बन्ध-भया भवन्ति॥४६॥

हिन्दी काव्य

पाँव कंठतैं जकर बाँध साँकल अति भारी।
गाढ़ी बेड़ी पैरमाहिं जिन जाँघ विदारी॥
भूख प्यास चिंता शरीर दुःखजे विललाने।
सरन नाहिं जिन कोय भूप के बन्दीखाने॥
तुम सुमरत स्वयमेव ही, बन्धन सब खुल जाहिं।
छिनमें ते संपति लहैं, चिंता भय विनसाहिं॥४६॥

अन्वयार्थ – **(आपाद-कण्ठम्)** चरणों से लेकर ग्रीवा तक **(उरुशृंखल-वेष्टित अङ्गाः)** बड़ी-बड़ी मजबूत सांकलों से जकड़ दिया है – कस दिया है अंग-अंग जिसका, **(गाढम्)** खूब अधिक मजबूत रूप से **(बृहत् निगड़-कोटि-निघृष्ट-जंघा)** बड़ी-बड़ी लोह शृंखलाओं के अग्रभाग से रगड़कर छिल गई हैं जाँघें जिनकी, वे मनुष्य **(त्वत् नाममन्त्रम्)** आपके नामरूपी मंत्र को **(अनिशम् स्मरन्तः)** दिन-रात स्मरण करने से, जपने से **(सद्यः)** तत्काल **(स्वयं)** अपने आप **(विगत-बन्ध-भयाः भवन्ति)** बन्धन के भय से मुक्त हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि – हे भगवन् ! जिसका शरीर ऐड़ी से लेकर चोटी तक बड़ी-बड़ी साँकलों से जकड़कर कस दिया गया हो, साँकलों की रगड़ से जिसकी जंघाएँ छिल गयी हों – ऐसे कारागार में बन्दी पुरुष, आपके नाम के स्मरणरूपी मंत्र का जाप करने से तुरन्त ही बन्धन के भय से मुक्त हो जाते हैं।

काव्य ४६ पर प्रवचन

इस काव्य में आचार्यदेव भगवान की भक्ति करते हुए आत्मा के अबन्ध स्वभाव का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि – हे नाथ ! वर्तमान में हमारी पर्याय

में राग है, इसकारण कर्म का निमित्त है; किन्तु जब अबन्ध स्वभाव के आश्रय से राग का अभाव होगा तो कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी छूट जायेगा। स्वभाव में भव और भव का कारण (विकार) नहीं है। हे नाथ ! आपके भव हो, तो हमारे भव हों। जब आपके ही भव का अभाव हुआ है तो आपके भक्तों के भव का अभाव क्यों नहीं होगा? अवश्य ही होगा। आपके भक्तों को भव कैसे हो सकता है? जिसने अबन्ध स्वभावी आत्मा का आश्रय लिया है, उसको संसार-बन्धनरूप मैल कैसे रह सकता है?

आपादकण्ठ अर्थात् पैरों से कण्ठ तक कसकर बेड़ियाँ बाँधी हों, कोई भी अंग खुला न हो, मोटी-मोटी साँकलों से शरीर जकड़ा हुआ हो, कर्म के दशकरणों में निधत्ति व निकाचित कर्म बँधा हो, तो वे भी मुझे बाधक नहीं हो सकते। साधक को अन्तरंग में पूर्ण परमात्मा की दृष्टि वर्तती है। उनकी दृष्टि में अल्पज्ञता, राग-द्वेष या व्यवहार की मुख्यता नहीं आती। जिनको निमित्त, राग, व्यवहार या अल्पज्ञता की मुख्यता आ जाती है, वे वस्तुत: आपके भक्त नहीं है। आपका क्षायिकज्ञान – अखण्डज्ञान प्रगट है। आपकी वाणी में आया कि – 'मेरा स्वभाव सर्वज्ञ है। मैं ऐसे स्वभाव का स्मरण करता हूँ, इससे शीघ्र मुक्तिपद प्राप्त करूँगा।'

यहाँ कोई प्रश्न करेगा कि – जब सम्पूर्ण परिणमन क्रमबद्ध ही होता है तो 'शीघ्र' मुक्ति पद पाने की बात कहाँ से आयी?

ज्ञानी को भव की शंका नहीं है, वह तो अबन्धपना साधता है। जिस ज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुई है, उसके क्रम में मोक्ष शीघ्र ही – अल्पकाल में ही प्रकट होनेवाला है तथा उसके पुण्यानुबन्धी पुण्य बँधता है। वस्तुस्वरूप की सच्ची श्रद्धा होने से ज्ञानी को बन्धन का भय नहीं होता। 'हमारे भव होगा.........' – ऐसी शंका भी नहीं होती। प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहा है कि – "जो सर्वज्ञ के द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जानता है, उसका मोह नष्ट हो जाता है। जिसने सर्वज्ञ को अपनी दृष्टि में लिया तथा निमित्त, अल्पज्ञता व राग के आश्रय से लाभ होने की विपरीत मान्यता छोड़

दी – ऐसे दृष्टिवन्त को अप्रतिहत भाव से समकित होता है। उसको एक अपेक्षा से क्षायिक जैसा समकित होता है। क्षायिक के काल में मोहक्षय हो जाता है तथा केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

जो निज स्वभाव से एकाकार होकर चिदानन्द स्वभाव का स्मरण करता है, उसकी क्रमबद्ध की श्रद्धा में पर के कर्तापने की दृष्टि छूट जाती है।

इसप्रकार जिसे सर्वज्ञ स्वभाव की दृष्टि होती है, वह सर्वज्ञ का भक्त है। उसे केवलज्ञान की श्रद्धा है, वस्तु-स्वभाव का निर्णय है। वस्तु-स्वभाव के निर्णय वाले को सच्चा पुरुषार्थ है। हे नाथ ! ऐसे सच्चे पुरुषार्थी जीव आपकी शरण में आते हैं और आपकी शरण से उनके सभी बन्धन टूट जाते हैं, इसमें जरा भी शंका नहीं है।

शास्त्राभ्यास कैसे करें ?

तत्त्वज्ञान के कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं और कितने ही जीव उन शास्त्रों का भी अभ्यास करते हैं; परन्तु वहाँ जैसा लिखा है, वैसा निर्णय स्वयं करके आपको आपरूप, पर को पररूप और आस्रवादि का आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते। मुख से तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करें, जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जायें। परन्तु जैसे कोई लड़का स्त्री का स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाये जिसे सुनकर अन्य पुरुष स्त्री कामरूप हो जायें; परन्तु वह तो जैसा सीखा, वैसा कहता है, उसे कुछ भाव भासित नहीं होता; इसलिये स्वयं कामासक्त नहीं होता। उसीप्रकार यह जैसा लिखा है, वैसा उपदेश देता है; परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता। यदि स्वयं को श्रद्धान हुआ तो अन्य तत्त्व का अंश अन्य तत्त्व में न मिलाता; परन्तु इसका ठिकाना नहीं है, इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

– **पण्डित टोडरमलजी,** मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३७

काव्य ४७

मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।।४७।।

हिन्दी काव्य

महामत्त गजराज और मृगराज दवानल।
फणपति रण परचंड नीर-निधि रोग महाबल।।
बन्धन ये भय आठ डरपकर मानो नाशै।
तुम सुमरत छिनमाहिं अभय थानक परकाशै।।
इस अपार संसार में, शरन नाहिं प्रभु कोय।
यातैं तुम पद-भक्त को, भक्ति सहाई होय।।४७।।

अन्वयार्थ – (यः मतिमान्) जो बुद्धिमान पुरुष **(तावकं इमम्)** आपके इस **(स्तवम्)** स्तोत्र को **(अधीते)** पढ़ता है, पाठ करता है **(तस्य)** उसका **(मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज)** मदोन्मत्त हाथी, सिंह तथा **(दवानल-अहि-सङ्ग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धन)** दावानल, सर्प, संग्राम, सागर, जलोदर तथा बन्धन से **(उत्थम्)** उत्पन्न हुआ **(भयम्)** डर **(भिया इव)** मानो डर के कारण से ही **(आशु नाशं उपयाति)** शीघ्र ही नाश हो जाता है।

काव्य ४७ पर प्रवचन

इस काव्य में यह कहा है कि जिनेन्द्र भगवान के सच्चे भक्त को सात प्रकार के भय नहीं होते। उसके समस्त भयों के कारण एकसाथ नष्ट हो जाते हैं। जो बुद्धिमान त्रिकाली द्रव्यस्वभाव का आलम्बन लेकर निमित्त एवं व्यवहार की रुचि छोड़कर तथा निमित्त से लाभ माननेरूप भ्रान्ति छोड़कर जिनेन्द्र देव का स्मरण व भक्ति करते हैं, उन्हें सर्व प्रकार के भयों से रहित निर्द्वन्द्व शान्तस्वभाव की प्राप्ति होती है।

भगवान की स्तुति करनेवाले मतिमान जो सुबुद्धि हैं, वे सम्यग्दृष्टि पात्र हैं। जो पुण्य-पाप व संयोग का आदर छोड़कर असंग व अविकार स्वभावी आत्मा का आदर करते हैं, वे ही मतिमान हैं, सुबुद्धि हैं; जो संयोग व विकार का आदर करते हैं, वे मतिमान नहीं हैं, सुबुद्धि नहीं हैं।

जो श्रद्धावान होकर निर्भयस्वभाव की दृष्टिपूर्वक इस स्तोत्र को पढ़ते हैं, उनको मदोन्मत्त हाथी, सिंह, बड़वाग्नि, सूर्य, युद्ध, समुद्र, जलंधर, वनाग्नि तथा बन्धन आदि से होनेवाले भय नहीं होते। उन्हें निःशंकता, निर्भयता और स्वभाव से ही प्रसन्नता होती है; सम्यग्दृष्टि इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अकस्मातभय, अनरक्षाभय और अगुप्तिभय – इन सात भयों से रहित होते हैं। सम्यग्दृष्टि को अभेद स्वभाव का आश्रय है, इसकारण वह आत्मोन्नति करता हुआ आठकर्मों का नाश करता है। सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा निःशंक होने से निर्भय है। कोई ऐसा समझता हो कि कर्म डर से भाग जाते होंगे – सो ऐसी बात नहीं है; कर्म तो जड़ हैं, उन्हें डर होने का प्रश्न ही कहाँ है ? धर्मात्मा अलंकार की भाषा में कहते हैं कि आठ कर्मों को डर लगता है, इसकारण वे हमारे पास से चले जाते हैं।

तत्त्वज्ञ को ज्ञानी गुरु ही प्रिय हैं

दिट्ठावि केवि गुरुणो, हियए ण रमंति मुणिय तत्ताणं।
केवि पुण अदिट्ठा, चिय रमंति जिण वल्लहो जेम॥१२९॥

अर्थ – कितने ही गुरु तो ऐसे हैं कि जिन्हें देखे लेने पर भी तत्त्वज्ञानियों का हृदय उनमें रमता नहीं है अर्थात् वे लोक में तो गुरु कहलाते हैं; परन्तु उनमें गुरुपने का गुण नहीं होता। ऐसे गुरु ज्ञानी पुरुषों को रुचते नहीं हैं। और कोई गुरु ऐसे हैं, जो अदृष्ट हैं – देखने में नहीं आते हैं – तो भी तत्त्वज्ञानी पुरुषों के हृदय में जिन-वल्लभ के समान रमते हैं। उन्हें जैसे जिनेन्द्र भगवान प्रिय हैं, उसीप्रकार सुगुरु भी प्रिय हैं। ज्ञानीजन उनका परोक्ष स्मरण करते हैं। जिसप्रकार गणधर आदि आज प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी ज्ञानीजनों के हृदय में वे रमते हैं।

– उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, श्लोक : १२९

काव्य ४८

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया रुचिर-वर्ण-विचित्र पुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठ-गतामजस्रं
तं 'मानतुंग'-मवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

हिन्दी काव्य

यह गुनमाल विशाल नाथ तुम गुनन सँवारी।
विविध-वर्णमय-पुहुप गूँथ मैं भक्ति विथारी॥
जे नर पहिरे कंठ भावना मन में भावैं।
'मानतुंग' ते निजाधीन-शिव-लछमी पावैं॥
भाषा भक्तामर कियो, 'हेमराज' हित हेत।
जे नर पढ़ैं सुभावसों, ते पावैं शिव-खेत॥४८॥

अन्वयार्थ – **(जिनेन्द्र)** हे जिनेन्द्र भगवन ! **(इह)** इस लोक में **(यः जनः)** जो पुरुष **(भक्त्या)** भक्तिपूर्वक **(मया)** मेरे द्वारा **(तव गुणैः निबद्धाम्)** आपके गुणों से गूँथी गई, बनाई गई **(रुचिर-वर्ण-विचित्र-पुष्पाम्)** मनोहर स्वर-व्यंजन वर्णों के यमक-श्लेष-अनुप्रासादि अलंकाररूप विविध सुमनों की **(स्तोत्रस्रजं)** आदिनाथ स्तोत्ररूपी माला को **(अजस्रम्)** सदैव **(कण्ठ-गतां धत्ते)** कण्ठस्थ करता है, गले में धारण करता है **(तं मानतुङ्गं)** उस प्रतिष्ठा प्राप्त महापुरुष को, स्वाभिमानी समुन्नत पुरुष को भक्तामर के द्वारा आदिनाथ के श्रोता श्री मानतुङ्गाचार्य को **(लक्ष्मी)** मोक्षलक्ष्मी **(अवशा समुपैति)** विवश होकर वरण करती है अर्थात् स्वयमेव प्राप्त होती है।

काव्य ४८ पर प्रवचन

दिगम्बर सन्त श्री मानतुङ्गाचार्य देव सदैव आत्मा के ज्ञान व आनन्दरस में

मग्न रहते थे। उन्हें भक्ति का उत्साह आया और यह महाकाव्य रूप स्तुति बन गई। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि आचार्यदेव ने यह काव्य बनाया।

किंवदन्ति है कि प्रसंगवश राजा ने श्री मानतुङ्गाचार्य को जेल (बंदीगृह) के अन्दर बन्द करा दिया था। उससमय आचार्यदेव द्वारा अन्य विकल्पों से बचने के लिए आदिनाथ भगवान का भक्ति-भाव सहित स्मरण करते हुए यह स्तोत्र बनाया गया। यदि उसी समय बाह्य पुण्योदय के निमित्त से बंदीगृह के ताले टूट गये हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि जिनेश्वरदेव की निश्चय स्तुति करने से तो कर्मप्रकृतियों के १४८ ताले तक टूट जाते हैं।

यहाँ इस काव्य में तो यह कह रहे हैं कि ज्ञानी को संग्राम में लड़ाई के मध्य भी भय नहीं होता। वह ध्रुव ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से अन्तर के रागादि शत्रुओं को जीत लेता है तथा बाहर में पूर्व पुण्य के योग से लड़ाई जीत लेता है। यह सब आपकी भक्ति का प्रभाव है।

आप ही वीतरागी देव हो, मैं आप जैसे वीतरागी देव के सिवाय अन्य की स्तुति नहीं करता। तीर्थंकर, वासुदेव, बलदेव शलाका पुरुष हैं। मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ – ऐसा ज्ञान होते हुए भी वर्तमान कमजोरी से लड़ाई का भाव आता है, लड़ाई में जाता है और वहाँ जीत जाता है।

यह आदिनाथ स्तोत्र का अन्तिम काव्य है। इसमें महान मांगलिक बात कही है। आचार्य कहते हैं कि जो इस स्तोत्र का भाव समझ लेता है, उसको आत्मा की अंतरंग पवित्रता की महिमा बढ़ जाती है। उसमें उसे आत्म-वैभवरूप लक्ष्मी की प्राप्ति तो होती ही है तथा कुछ काल तक रागांश रहने से उसके फल से स्वर्ग की लक्ष्मी भी मिले तो इसमें क्या आश्चर्य ? मनुष्यभव में राज्य की लक्ष्मी भी मिलती है और अन्त में केवलज्ञान लक्ष्मी तो मिलती ही है।

हे नाथ ! आपकी भक्ति करनेवाला आप जैसा ही हो जाता है। हे जिनेन्द्रदेव ! आपके गुणरूपी वन में से मैंने ऐसे गुणों की माला गूँथी है, ऐसा अमृत का हार बनाया है कि जिसमें आत्मा के अनुभव रूपी मधुर-मधुर गुच्छे लगे हैं।

हे देव ! ४८ काव्यरूप भक्ति-पुष्पों द्वारा गूँथी गई यह भक्तिमाला है, जो भक्तों को सदैव आनन्द देनेवाली होगी। जो भव्यजीव इन ४८ काव्यपुष्पों की माला को अर्थसहित याद करके कंठ में धारण करेंगे – पहनेंगे अर्थात् आत्मस्वभाव में जमेंगे, उन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा तीर्थंकर जैसा उच्च पद का सम्मान मिलेगा अर्थात् वे तीर्थंकर होंगे। मानतुङ्ग का अन्तरंग अर्थ उच्चमान मिलना है। जहाँ पवित्रता के साथ पुण्य का भी पूरा वैभव प्राप्त होगा, पुण्य की भी कमी नहीं रहेगी।

आचार्य कहते हैं – मुझे भी संयोगी के काल में स्वर्ग का राज्य तथा पश्चात् पूर्णता के काल में शिवलक्ष्मी-मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होगी।

१०वें काव्य में भी कहा है कि – 'तुल्या भवति भवतो ननु तेन किं वा' अर्थात् मैं भी आप जैसी ही पवित्रता व पुण्य से भरा-पूरा तीर्थंकर पद प्राप्त करूँगा।

अहो ! ऐसे भगवान !!

भगवान की प्रतिमा देखते ही 'अहो ! ऐसे भगवान !!' इसप्रकार एकबार जो सर्वज्ञदेव के यथार्थ स्वरूप को लक्ष्यगत कर ले उसका भव से बेड़ा पार है। श्रावक प्रातःकाल भगवान के दर्शन द्वारा अपने इष्ट-ध्येय को स्मरण करके बाद में ही दूसरी प्रवृत्ति करे। इसीप्रकार स्वयं भोजन करने के पूर्व मुनिवरों को याद करे कि अहा ! कोई सन्त-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आँगन में पधारें और भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन कराके पीछे मैं भोजन करूँ। देव-गुरु की भक्ति का ऐसा प्रवाह श्रावक के हृदय में बहना चाहिए। भाई ! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा सन्त-मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धन्धा अथवा स्त्री आदि की याद आती है तो तू ही विचार कर कि तेरी परिणति किस ओर जा रही है ?

– **आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी**, श्रावकधर्मप्रकाश, पृष्ठ ८९

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मोक्षशास्त्र/चौबीस तीर्थंकर महापुराण/समयसार
बृहद् जिनवाणी संग्रह
रत्नकरण्डश्रावकाचार/मोक्षमार्ग प्रकाशक
मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन भाग-1, 2, 3, 4
प्रवचनसार
क्षत्रचूड़ामणि
समयसार नाटक
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग 1
बृहद द्रव्यसंग्रह/जिनेन्द्र अर्चना/नियमसार
दिव्यध्वनिसार प्रवचन भाग 1
योगसार प्रवचन/तीन लोक मंडल विधान
समयसार कलश/चिन्तन की गहराईयाँ
प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11 तक
नयप्रज्ञापन/समाधितंत्र प्रवचन
पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व
समयसार अनुशीलन सम्पूर्ण भाग 1,2,3,4,5
आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व
पंचास्तिकाय संग्रह/सिद्धचक्र विधान
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा
परमभावप्रकाशक नयचक्र
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/ज्ञानगोष्ठी
सूक्तिसुधा/आत्मा ही है शरण/आत्मानुशासन
संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा
इन्द्रध्वज विधान/धवलासार
रामकहानी/गुणस्थान विवेचन
सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव
सर्वोदय तीर्थ
सत्य की खोज/बिखरे मोती
निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ
श्रावकधर्मप्रकाश/कल्पद्रुम विधान
वी.वि. पाठमाला भाग 1,2,3
वी.वि. प्रवचन भाग 1 से 6 तक
तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान
भक्तामर प्रवचन/बारह भावना : एक अनुशीलन
धर्म के दशलक्षण/विदाई की बेला

नवलब्धि विधान/बीस तीर्थंकर विधान
पंचमेरु नंदीश्वर विधान/रत्नत्रय विधान
सुखी होने का उपाय भाग 1 से 8 तक
जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय
आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
कालजयी व्यक्तित्व बनारसीदास
बालबोध भाग 1,2,3
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1,2
छहढाला (सचित्र)/भ. ऋषभदेव/शीलवान सुदर्शन
प्रशिक्षण निर्देशिका/जैन विधि-विधान
क्रमबद्धपर्याय/दृष्टि का विषय
बारसाणुवेक्खा/चौबीस तीर्थंकर पूजा
गागर में सागर/आप कुछ भी कहो
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव
जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 15 तक
अहिंसा के पथ पर/जिनवरस्य नयचक्रम्
णमोकार महामंत्र/वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-5
चौसठ ऋद्धि विधान/कारणशुद्धपर्याय
दशलक्षण विधान/आचार्य कुन्दकुन्ददेव
पंचपरमेष्ठी विधान/विचार के पत्र विकार के नाम
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम
परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग
युगपुरुष कानजीस्वामी/सामान्य श्रावकाचार
अलिंगग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका
मैं कौन हूँ/सत्तास्वरूप/वीर हिमाचलतैं निकसी
समयसार : मनीषियों की दृष्टि में
व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/पदार्थ-विज्ञान
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/महावीर वंदना (कैलेण्डर)
वस्तुस्वातंत्र्य/भरत-बाहुबली नाटक
शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति
सुख कहाँ है/सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता
मैं स्वयं भगवान हूँ/णमोकार महामंत्र एक अनुशीलन
रीति-नीति/गोली का जवाब गाली से भी नहीं
समयसार कलश पद्यानुवाद/अष्टपाहुड़
योगसार पद्यानुवाद/कुन्दकुन्दशतक पद्यानुवाद
अर्चना/शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद
षट्कारक अनुशीलन/अपनत्व का विषय